बच्चों की आदतों का विकास

राममूर्ति मेहरोत्रा, एम० ए० (आगरा),
एम० ए० (लखनऊ), बी० एड०

विद्या मन्दिर लिमिटेड,
नई देहली ।

प्रकाशक
विद्या मन्दिर लिमिटेड,
कनॉट सरकस, नई देहली।

दूसरा संस्करण
जनवरी १९४९

× × × × ×

मुद्रक
गोंडल्स प्रेस, नई देहली

आदरणीय

श्री पण्डित रामनारायण मिश्र बी० ए०,

प्रधान मन्त्री, नागरी प्रचारणी सभा, काशी,

के

करकमलों में

सादर समर्पित

विषय--सूची

भूमिका

हम अध्यापकों तथा अभिभावकों का बच्चों से अधिक सम्बन्ध रहता है, परन्तु हममें से कितने उनको समझते हैं, यह बताना कठिन है। यद्यपि उनके पथ-प्रदर्शक का भार हम लोगों पर है, यद्यपि हमारी दशा उस अंधे पथ-प्रदर्शक की भांति है जो अपने अनुयायियों को कहीं भी ले जा सकता है। प्रायः माता-पिता तथा अध्यापकगण लड़के-लड़कियों को एक ही डंडे से हाँका करते हैं। उनको यह नहीं मालूम कि ऐसा करना भूल है, अप्राकृतिक है। लड़के-लड़कियों के शारीरिक, मानसिक तथा भावात्मक विकास में बड़ा अन्तर है। यह अन्तर किशोरावस्था में प्रत्यक्षतः दिखाई देने लगता है। इतना ही नहीं, अपितु वे उनसे हर समय एक सा परिश्रम लेते रहते हैं, जिससे उनके शारीरिक विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है, कारण कि शीघ्र बढ़ने के समय अधिक कार्यभार पड़ने से बच्चा भली भांति नहीं बढ़ पाता। बच्चों के अनेकों रोग ऐसे हैं जिनके होने का एक निश्चित समय होता है, परन्तु इससे अविज्ञ होने के कारण हम रोगों से बचाव नहीं कर पाते हैं और अपने अज्ञान तथा असावधानी के कारण सैकड़ों बच्चों की जान खो बैठते हैं। प्रायः अध्यापक शारीरिक-दण्ड-निषेध नियम से जान बचाने के लिये छोटे २ बच्चों को घण्टों बेंच पर खड़ा

कर देते हैं अथवा उनसे सैकड़ों बार उठक-बैठक कराकर कन-पकड़ी कराते हैं। यह अस्थि-वृद्धि के लिये बड़ा अहितकर है। अध्यापक बच्चों को घर पर करने के लिये इतना काम दे देते हैं कि वे रात को, जब तक नींद से आँखें मिच नहीं जातीं, कार्य करते रहते हैं और फिर उल्टा-सीधा खाना खाकर स्कूल को दौड़ते हैं और यदि क्लास टाईम टेबल न हुआ, तो फिर विद्यार्थी क्या, पूरा कुली ही हो जाता है। कभी-कभी ग्रंथियों (glands) से उचित प्रकार रस निष्क्रमित न होने से बालक—विशेषकर किशोरावस्था में— अनावश्यक रूप से घट-बढ़ जाते हैं। प्रायः ग्रंथि-संस्थान से अनभिज्ञ अध्यापक तथा अभिभावक इसे कुसंग का फल समझकर उनके चरित्र को सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं।

मनोविज्ञान से अविज्ञ अध्यापक बच्चों के बुद्धि सम्बन्धी अन्तर की उपेक्षा करके सब बच्चों को एकसा समझते हैं, उनको एक ही प्रणाली से शिक्षा देते हैं और सफलता न होने पर बच्चों को मारते-कूटते हैं। इतना ही नहीं, अपितु कभी २ बालक क्षीण-दृष्टि, बधिरपन, टांसिल, एडीनाइड्ज आदि रोगों से रुग्ण होने के कारण मन्द बुद्धि तथा फिसड्डी हो जाते हैं, परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक इसे उनकी लापरवाही का फल समझकर उनको मारा-पीटा करते हैं। प्रायः माता-पिता तथा अध्यापकगण समझा करते हैं कि काम-वृत्ति की उत्पत्ति सहसा यौवनोद्गम काल में होती है, परन्तु फ्रायड के मतानुसार इसका जन्म बालक के साथ ही हो जाता है और इसके द्वारा बाल सम्बन्धी कठिनाइयों की सरलतापूर्वक व्याख्या हो सकती है। बच्चों को किस अवस्था में

क्या खेल खिलाने चाहियें क्या नहीं, इसका प्रायः लोगों को ज्ञान नहीं होता। वे बच्चों को परस्पर चिढ़ाते और बड़ों के नाम रखते देखकर बुरा मानते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि इन सब प्रवृत्तियों का अच्छा उपयोग भी हो सकता है। खेल शिक्षण का एक विशेष अंग है। इस पुस्तक में उक्त सभी प्रवृत्तियों, समस्याओं तथा सह-शिक्षा, काम-शिक्षा आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उसके अतिरिक्त झूठ बोलना, चोरी करना, घर से भागना इत्यादि बच्चों की कुप्रवृत्तियों तथा समस्याओं की भी विस्तृत व्याख्या की गई है।

उक्त पुस्तक की सभी बातें वर्षों के बाल-निरीक्षण तथा अध्ययन का फल हैं और अनुभव द्वारा सत्य तथा प्रामाणिक सिद्ध हो चुकी हैं। यदि अध्यापकगण तथा अभिभावक इससे लाभ उठा सकें, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

एस० के० पी० हाईस्कूल
इलाहाबाद
१५-८-४५

रामसूर्ति मेहरोत्रा,
एम० ए०, बी० एड०
(हेडमास्टर)

दूसरे संस्करण के बारे में

कागज की बेहद कमी के कारण दूसरा संस्करण इच्छा रहते हुए भी सुन्दर नहीं बन पड़ा। पहले संस्करण से छापा मोटा कर दिया गया है जिससे कि अधिक आयु के माता-पिता भी पढ़ने में

कठिनाई अनुभव न करें।

दूसरे संस्करण में पृष्ठ बढ़ने का तथा मूल्य में वृद्धि होने का कारण केवल छापे का मोटापन ही नहीं, परन्तु संशोधन और परिवर्धन भी है। अतिरिक्त इसके बच्चों की एक नई कुप्रवृत्ति 'धूम्र-पान' पर अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है। अतः प्रथम संस्करण के पाठकों, विशेष कर पुस्तकालयों, को चाहिये कि दूसरा संस्करण मंगवाकर प्रथम संस्करण की कमी को पूरा कर लें।

—प्रकाशक

१

मानव-जीवन और उसकी अवस्थाएं

सामान्यतः प्रत्येक प्राणी का जीवन तीन अवस्थाओं में विभक्त माना गया है—बचपन, जवानी और बुढ़ापा। यह प्रश्न दूसरा है कि ये अवस्थायें विभिन्न प्राणियों में किस समय प्रारम्भ होती हैं और कब तक रहती हैं, परतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न प्राणियों के जीवन-काल के अनुसार थोड़े-बहुत समय के लिए ये तीनों अवस्थाएं प्रत्येक प्राणी के जीवन में आती हैं। मानव-जीवन अन्य जीवधारियों की अपेक्षा अधिक रहस्यमय तथा चमत्कारपूर्ण वस्तु है। अतः पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक तथा भारतीय जीवन-वेत्ता इन तीन अवस्थाओं से संतुष्ट न रह सके और उन्होंने इन जीवन-अवस्थाओं की विस्तृत व्याख्या करने की चेष्टा की।

जेम्स एस० रास† ने जीवन की अवस्थाएं निम्नलिखित मानी हैं:—

कुमार अवस्था	(Infancy)	जन्म से ५ वर्ष तक
पौगण्ड अवस्था	(Late childhood)	५ से १२ वर्ष तक
किशोर अवस्था	(Adolescence)	१२ से १८ वर्ष तक
प्रौढ़ अवस्था	(Maturity)	१८ वर्ष के बाद

---

† जेम्स एस० रास 'एजुकेशनल सइकोलाजी' पृ० १३९

जेम्स एस० रास, स्टुअर्ट एच० रोब आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने तरुणावस्था को दो कालों में विभक्त किया है—यौवनोद्गम अथवा किशोर (Puberty) और यौवन (Adolescence)। प्रायः यौवनोद्गम का समय दो वर्ष माना गया है और वह लड़कियों में १२ से १४ वर्ष तक और लड़कों में १४ से १६ वर्ष तक रहता है परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वह लड़कियों में १२ से १६ वर्ष तक और लड़कों में १३ से १७ वर्ष तक रहता है। इस प्रकार १२ वर्ष के पश्चात् लड़की और लड़के की आयु में, यदि दो वर्ष का नहीं तो कम से कम एक वर्ष का अन्तर अवश्य होजाता है।

हमारे भारतीय मनोवैज्ञानिक तो और भी आगे बढ़ गए हैं। श्रीमद्भागवत के श्लोक—

> कौमारं पञ्चमाद्वान्तं पौगण्डं दशमावधि।
> कैशोरमापञ्चदशात् यौवनञ्च ततः परम्॥‡

के अनुसार जीवन की अवस्थाएं निम्न लिखित हैं—

कौमार अवस्था	—	जन्म से ५ वर्ष तक
पौगण्ड अवस्था	—	५ से १० वर्ष तक
किशोर अवस्था	—	१० से १५ वर्ष तक
युवा अवस्था	—	१५ वर्ष के बाद

भारत धृतस्मृति के श्लोक,

> आषोडशाद्भवेद्बालस्तरुणस्तत उच्यते।
> वृद्धःस्यात् सप्ततेरूर्ध्वं वर्षीयान् नवतेः परम्॥

---

‡ श्रीमद्भागवत् दशम स्कंध, द्वादश अध्याय, श्लोक ३७

में १५ वर्ष के बाद की अवस्थाएं भी दी हैं, जो कि निम्न लिखित हैं:—

बाल अवस्था	जन्म से १६ वर्ष के आदि तक
तरुण अवस्था	१६ वर्ष के आदि से ७० वर्ष तक
वृद्ध अवस्था	७० वर्ष से ९० वर्ष तक
वर्षीयान	९० वर्ष के बाद

इतना ही नहीं, अपितु युवावस्था का भेद भी नहीं छूटने पाया है। 'आषोडशाद्भवेद्बालः पञ्चत्रिंशत् युवा नरः' (हारीत) के अनुसार नर अर्थात् पुरुष ३५ वर्ष तक युवा रहता है। अतएव पुरुष १५ से ३५ तक तरुण और ३५ से ७७ तक प्रौढ़ रहता है।

अब रहा प्रश्न स्त्रियों की अवस्थाओं का। कालिदास ने उसकी भी पूर्ति कर दी है।

'आषोडशाद्भवेद्बाला तरुणी त्रिंशता मता।
पञ्च पञ्चाशतः प्रौढ़ा, वृद्धा भवति तत्परम् ॥ (कालिदास)

उसके अनुसार स्त्रियों की अवस्थाएं निम्न लिखित हैं :—

बाला—	१६ वर्ष के आदि तक
तरुणी—	१६ वर्ष के आदि से ३० वर्ष तक
प्रौढ़ा—	३० वर्ष से ५५ वर्ष तक
वृद्धा—	५५ वर्ष के बाद

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियों की तरुण तथा प्रौढ़ अवस्थाओं का समय पुरुषों की अपेक्षा कम है। स्त्रियां ५५ वर्ष में ही वृद्ध हो जाती हैं, जब कि पुरुष ७० वर्ष तक तरुण बने रहते

हैं। अतः भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने ३० वर्ष के पश्चात् स्त्री-पुरुष की अवस्थाओं के काल-विभाग में पड़ने वाले अंतर की ओर भी ध्यान दिया है और स्पष्टतः बता दिया है कि यह अंतर ३५ वर्ष तक ५ वर्ष का और ७० वर्ष तक १५ वर्ष का होता है अर्थात् आयु के साथ यह अंतर भी बढ़ता जाता है। इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने १६ वर्ष के पूर्व लड़के-लड़कियों की आयु में पड़ने वाले अन्तर की ओर भी संकेत किया है। स्मृति के श्लोक—

अष्ट वर्षा भवेद्गौरी, दश वर्षा च कन्यका।
सम्प्राप्ते द्वादशे वर्षे, कुमारीत्यभिधीयते॥

के अनुसार लड़की १२ वर्ष की आयु में कुमारी होती है और 'कौमारं तन्त्रमते षोडशवर्ष पर्यन्तम्' के अनुसार लड़का १६ वर्ष में कुमार होता है। अतः लड़के-लड़की में १६ वर्ष तक ४ वर्ष का अन्तर हो जाता है।

पाश्चात्य तथा भारतीय वर्गीकरणों में दो बड़े भारी भेद हैं। प्रथम, पाश्चात्य वर्गीकरण के अनुसार पौगण्ड अवस्था १२ वर्ष तक रहती है और तत्पश्चात् किशोर अवस्था आती है, परन्तु भारतीय वर्गीकरण में पौगण्ड अवस्था १० वर्ष के पश्चात् ही समाप्त हो जाती है और ११ वें वर्ष से किशोर अवस्था आरम्भ हो जाती है। द्वितीय, पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने १२ से १६ वर्ष तक लड़के-लड़की की आयु में २ वर्ष का अन्तर बताकर ही संतोष कर लिया है। भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने यद्यपि १६ वर्ष तक ४ वर्ष का अन्तर माना है, तथापि इतने पर ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए। वे इसको

आगे बढ़ाकर ७० वर्ष तक ले गए हैं और उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि यह अन्तर १२ से प्रारम्भ होकर ७० वर्ष तक बराबर बढ़ता जाता है। यहाँ हम इन दोनों बातों की आलोचना करेंगे। शरीर के विकास पर जलवायु का अधिक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि अफ़गानी तथा पंजाबी आदमी बंगाली तथा बिहारी आदमियों की अपेक्षा अधिक हृष्ट-पुष्ट, लम्बे-चौड़े तथा बलिष्ठ होते हैं; उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती देशों में लड़कियों को २५-३० वर्ष की अवस्था तक मासिक धर्म नहीं होता, परन्तु भारतवर्ष में १२-१३ वर्ष की अवस्था में ही होने लगता है। 'दशमे कन्यका प्रोक्ता अत ऊर्ध्वं रजस्वला' (स्मृति) के अनुसार तो लड़की केवल १० वर्ष तक ही कन्या रहती है और तत्पश्चात् 'रजस्वला' हो जाती है। अरब में तो लड़की ६ वर्ष में ही विवाह के योग्य समझ ली जाती है। अतः सम्भव है कि पाश्चात्य देशों में ठंड के कारण पौगण्डावस्था देर तक चलती हो और तदनुसार किशोरावस्था देर में आरम्भ होती हो, परन्तु भारतवर्ष एक गर्म देश है। यहाँ १० वर्ष के पश्चात् किशोरावस्था प्रारम्भ हो जाती है जैसा कि वी० एन० झा ने भी कहा है:—

‡ In India the onset is on an average a year earlier both for boys and girls than in the colder countries of the west अर्थात् पश्चिम के ठंडे देशों की अपेक्षा

‡ वी० एन० झा 'माडर्न एजुकेशनल साइकोलाजी' पृ० ४०६

भारत में लड़के और लड़कियों की किशोरावस्था का आरम्भ लगभग १ वर्ष पहले होता है। अतएव इस दृष्टि से भारतीय वर्गीकरण पाश्चात्य वर्गीकरण की अपेक्षा अधिक शुद्ध तथा उपयोगी है। दूसरी दृष्टि से भारतीय वर्गीकरण विस्तृत तथा पूर्ण तो है, परन्तु अत्यन्त प्राचीन काल का होने के कारण वह समयानुकूल नहीं रहा है। शरीर के विकास पर जलवायु के अतिरिक्त काल अर्थात् तत्कालीन भावों तथा विचारों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल में २५ वर्ष तक लोगों को धोती बाँधनी भी नहीं आती थी, परन्तु आजकल वे इस आयु तक चार-पाँच बच्चों के बाप हो जाते हैं। प्राचीन काल में मनुष्य ६०-७० वर्ष तक तरुण रहता था, 'साठा सो पाठ' परन्तु आजकल तो मनुष्य इस अवस्था में परलोक सिधार जाता है। प्राचीन काल में २४–२५ वर्ष तक मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी रहते थे और भोग-विलास तथा काम-सम्बन्धी बातें समझते तक न थे, परन्तु आजकल १२–१४ वर्ष में ही बालक सब बातें जान जाते हैं। इसके अतिरिक्त लड़के-लड़कियों में भी शीघ्र ही बड़ा अन्तर हो जाता है। अतः भारतीय वर्गीकरण अनुपयोगी है और इसमें संशोधन की आवश्यकता है। सारांश यह है कि दोनों ही वर्गीकरण अंशतः सत्य होने पर भी त्रुटिपूर्ण तथा संशोधनात्मक हैं। अतः जलवायु, काल तथा बालक-बालिकाओं के आयु-भेद का ध्यान रखते हुए उक्त दोनों वर्गीकरणों का समन्वय करना युक्ति-संगत होगा।

पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष उष्ण देश है, अतः यहां किशोरावस्था १२ वर्ष के पश्चात् आरम्भ न होकर ग्यारहवें वर्ष ही में आरम्भ हो जाती है और लड़के लड़कियों में अन्तर दिखाई देने लगता है। १२ वर्ष के पश्चात् लड़के-लड़कियों में लगभग १ वर्ष का अन्तर हो जाता है, जैसा कि वी० एन० झा का कथन है, 'the onset of puberty occurs in boys between 13 and 17 years and in girls between 12 and 16 years'‡ अर्थात् किशोरावस्था लड़कों में १३ से १७ वर्ष तक और लड़कियों में १२ से १६ वर्ष तक रहती है। लड़कियाँ १२ से १४ वर्ष तक और लड़के १४ से १६ वर्ष तक बहुत तेजी से बढ़ते हैं। इस प्रकार १८ वर्ष तक लगभग दो वर्ष का अन्तर हो जाता है जो कि शनैः शनैः बढ़ता रहता है। अतः सर्वोत्तम वर्गीकरण इस प्रकार होगा:—

(अ) बाल्य-काल (Child & boyhood)

कुमार अवस्था (Infancy)	— जन्म से ५ वर्ष तक
पौगण्ड अवस्था (Late Childhood)	५ से १० वर्ष तक (लड़की) ५ से १०-११ वर्ष तक (लड़का)
किशोर अवस्था (Puberty)	१० से १४ वर्ष तक (लड़की) १०-११ से १५-१६ वर्ष तक (लड़का)

‡ वी० एन० झा 'माडर्न एजुकेशनल साइकोलाजी', पृष्ठ ४०६

तरुण अवस्था (Early adolescence)	१४ से १६ वर्ष तक (लड़की) १५-१६ से १८ वर्ष तक (लड़का)

(आ) प्रौढ़-काल (Maturity & manhood)

युवा अवस्था (Adolescence)	१६ से ३० वर्ष तक (स्त्री) १८ से ३५ वर्ष तक (पुरुष)
प्रौढ़ अवस्था (Later adolescence)	३० से ४५ वर्ष तक (स्त्री) ३५ से ५५ वर्ष तक (पुरुष)
वृद्ध अवस्था (Old age)	४५ के पश्चात् (स्त्री) ५५ के पश्चात् (पुरुष)

वाल्य-काल जीवन का सर्व-प्रमुख तथा सुन्दर समय है, अतः बच्चों के शरीरिक, मानसिक तथा भावात्मक विकास की संक्षिप्त में चर्चा करके उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों की विस्तृत रूप से व्याख्या की जायगी।

२

जीवन-विकास

दिन के बाद रात, रात के बाद दिन, सुख के बाद दुःख, दुःख के बाद सुख, परिश्रम के बाद विश्राम, विश्राम के बाद परिश्रम यह चक्र चलता ही रहता है। प्रत्येक पेड़-पौधे तथा जीव-जन्तु के विकास की भी यही दशा है। शीघ्र वृद्धि (Rapid growth) के पश्चात् अवरोध (Slow growth) और अवरोध के पश्चात् शीघ्र वृद्धि प्रत्येक प्राणी के जीवन में अपने अपने समय पर क्रमानुसार आते-जाते ही रहते हैं। अतः विकास के अनुसार जीवन में दो प्रकार की अवस्थाएं होती हैं—(१) अकस्मात् वृद्धि-काल (Springing up period) जिसमें शरीर अत्यन्त शीघ्रता से बढ़ता है, (२) पुष्टि-काल (Filling out period) जिसमें अकस्मात वृद्धि-काल में बढ़े हुए शरीर की पुष्टि होती है। जिस प्रकार किसी कला के सीखने में बीच-बीच में विश्राम (Period of consolidation) लेना आवश्यक है, किसी देश को जीतकर उस पर अधिकार-पुष्टि (Consolidation) करना आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार अकस्मात् वृद्धि-काल में होने वाली बढ़न को दृढ़ करने के लिए पुष्टि-काल (Period of consolidation) अनिवार्य है। यही बात बालकों के जीवन-विकास में मिलती है।

बालकों का विकास शारीरिक, मानसिक तथा भावात्मक तीन

प्रकार से होता है और तीनों में ही अकस्मात् वृद्धि तथा पुष्टि-काल होते हैं। मनुष्य के जीवन-विकास का हम निम्न प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं:—

शीघ्र-बढ़न की पहली अवस्था—जन्म से ३ वर्ष तक
दृढ़ होने की पहली अवस्था—३ से ५ वर्ष तक
शीघ्र बढ़न की दूसरी अवस्था—५ से ७ वर्ष तक
दृढ़ होने की दूसरी अवस्था—७ से ११-१२ वर्ष तक
शीघ्र बढ़न की तीसरी अवस्था—११-१२ से १५-१६ वर्ष तक
दृढ होने की तीसरी अवस्था—१५-१६ से १९-२० वर्ष तक

लगभग १९-२० वर्ष की अवस्था तक शरीर-वृद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तत्पश्चात् प्रत्यक्षतः कोई विशेष वृद्धि नहीं होती, हाँ अनुभव अवश्य बढ़ता है। यह बात दूसरी है कि किसी-किसी मनुष्य की, जिसका विकास अल्पाहार, रोग, अत्यधिक दबाव, इत्यादि किसी कारण से पूर्ण रूप से नहीं हो पाता है, अनुकूल परिस्थिति मिलने पर इस समय के पश्चात् भी मानसिक, भावात्मक और शरीरिक शक्तियां बढ़ती रहती हैं।

विकास-काल और उनका समय

सामान्यतः प्रत्येक वृद्धि तथा पुष्टि-काल अपने निश्चित समय पर ही आता है, परन्तु बाह्य कारणों से वह विभिन्न व्यक्तियों में आगे-पीछे भी हो सकता है। बाह्य कारणों में से प्रमुख समाज, जाति, जलवायु, लिंग-भेद, आहार, रोग, अत्यधिक दबाव, असामयिक तथा अत्यधिक परिश्रम, अत्यधिक स्वच्छंदता इत्यादि

हैं। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। आपने देखा होगा कि प्रायः छोटे बच्चे उत्सुकता के कारण विभिन्न वस्तुओं को छुआ-छेड़ा करते हैं और प्रायः तोड़-फोड़ भी डालते हैं। अविज्ञ माता-पिता इसको शरारत के कारण समझकर अथवा इसलिए कि वे डरते रहें और भविष्य में इस प्रकार की हानि न करें, उनको जोर से डाटते-डपटते तथा मार-पीट देते हैं। जिसका फल यह होता है कि अबोध बालक के मन में एक प्रकार का डर बैठ जाता है और वह पिटने अथवा डाट पड़ने के डर से किसी वस्तु को नहीं छूता। फलतः वह सदैव के लिए संकोची तथा डरपोक बन जाता है और उसकी स्वाभाविक विकास-गति अवरुद्ध हो जाती है। यही दशा अन्य कारणों से भी होती है। इनमें रोग सर्व प्रमुख कारण है और इसका निवारण बहुत कुछ मनुष्य के हाथ में भी नहीं है। विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले रोगों की व्याख्या विस्तृत रूप से आगे की जायगी।

सारांश यह है कि न तो यह ही आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति में वृद्धि तथा पुष्टि की अवस्थाएं समान समय पर आवें और न यह ही आवश्यक है कि सब मनुष्यों में एक ही समय तक वे रहें। अतः किसी अवस्था विशेष की पहचान उसके निश्चित समय मात्र से ही नहीं हो सकती अर्थात् उपर्युक्त वृद्धि तथा पुष्टि-काल पहचानने के लिये उनके निर्धारित समय के अतिरिक्त कुछ और भी जानना आवश्यक है।

निश्चित समय के अतिरिक्त प्रत्येक अवस्था की कुछ अपनी

निजी विशेषताएं तथा वाह्य चिह्न भी होते हैं जिनसे वह सहज ही पहचानी जा सकती है।

विभिन्न अवस्थाएं और उनकी पहचान

शीघ्र बढ़न की पहली अवस्था—(जन्म से ३ वर्ष तक)-बच्चा अपने जन्म के लगभग एक मास के पश्चात् शीघ्र बढ़ना आरम्भ होता है और जब तक उसके ऊपर-नीचे के चार दांत निकलते हैं अर्थात् लगभग एक वर्ष तक वह अत्यन्त शीघ्रता से बढ़ता रहता है। तत्पश्चात् उसकी बढ़न की गति कुछ मन्द पड़ जाती है, तदपि वह लगभग ३ वर्ष तक काफ़ी तेज़ी से बढ़ता रहता है। इस प्रकार बच्चे की बढ़न की पहली अवस्था की समाप्ति उस समय समझनी चाहिये जब उसके लगभग २० दाँत तथा डाढें निकल आवें। इस अवस्था के समाप्त होते-होते बच्चा दो-दो तीन-तीन शब्दों के पूरे-अधूरे तथा छोटे-छोटे वाक्य भी बोलने लगता है। (बच्चे की भाषा की विस्तृत चर्चा वाक्-शक्ति के विकास के साथ पृथक् की जायगी।)

दृढ़ होने की पहली अवस्था—(३ से ५ वर्ष तक) इस अवस्था में प्रायः बच्चे तुतला कर बोला करते हैं। इस अवस्था के समाप्ति-काल तक बालक के ४ डाढ़ें और निकल आती हैं और कुल मिलाकर २४ दांत-डाढ़ हो जाते हैं। इस अवस्था के समाप्त होते-होते बालक के मुख का भोलापन कुछ-कुछ कम होने लगता है और पक्कापन आने लगता है।

शीघ्र बढ़न की दूसरी अवस्था—(५ से ७ वर्ष तक)-इस अवस्था

में बढ़न का सहसा बोझ पड़ने के कारण देखने में बच्चा कुछ दुबला मालूम होने लगता है, उसके हाथ-पैर कुछ लम्बे हो जाते हैं, गाल कुछ पिचक जाते है और नाक कुछ उठी हुई मालूम होती है। मुख का भोलापन पूर्णतः जाता रहता है और पक्कापन आ जाता है। शैशवकाल का गोल-गोल भरा हुआ मुख अपने वंश के अनुसार बदल जाता है। सिर भी बढ़कर लगभग बड़े आदमी के बराबर हो जाता है।

दृढ़ होने की दूसरी अवस्था—(७ से १२ वर्ष तक)-इस अवस्था के प्रारम्भ होते ही दूध के दांत उखड़ने लगते हैं और समाप्त होते-होते दूध के दांतों के स्थान में स्थायी दांत पूर्णतः निकल आते हैं।

शीघ्र बढ़न की तीसरी अवस्था—(११-१२ से १५-१६ वर्ष तक) इस समय जीवन-वसंत अर्थात् किशोर अवस्था का प्रारम्भ होता है, अतः वसंत ऋतु के प्रत्येक पेड़-पौधे, फूल-पत्तों की भांति बालक के अंग-अंग और नस-नस में एक नवीन शक्ति का उदय और जीवन का संचार होता है। आकार तथा भार दोनों बढ़ने लगते हैं। लड़के अधिक लम्बे और लड़कियाँ अधिक गोल तथा मोटी हो जाती हैं। लड़कियों की आवाज़ कुछ मधुर और लड़कों की कुछ कर्कश होने लगती है। इस अवस्था की सबसे बड़ी पहचान लड़कों के मुख पर दाढ़ी-मूंछ के प्रारम्भिक चिह्न भूरी लोम-राशि निकलने लगना और लड़कियों का वक्ष-स्थल तथा स्तन बढ़ जाना है। इस अवस्था के प्रारम्भ में बालकों में थोड़ा चिलबिलापन आने लगता है जो कि इस अवस्था के समाप्त होते-होते एक प्रकार

की सकुचाहट में परिवर्तित होने लगता है। इस समय बालकों की फैशन में रुचि बढ़ जाती है और उनमें कुछ-कुछ स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति प्रबल होने लगती है। इसी हेतु लड़के कभी-कभी घर से भाग भी जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस अवस्था के अन्त तक लड़के-लड़की पारस्परिक लिंग-भेद को समझने लगते हैं और पहले की भांति स्वच्छंदतापूर्वक एक साथ खेलने-कूदने के स्थान में परस्पर मिलने जुलने, एवं एक साथ बैठने-उठने में भी संकोच करने लगते हैं।

दृढ़ होने की तीसरी अवस्था (१५-१६ से १६-२० वर्ष तक)— इस अवस्था के प्रारम्भ होते ही मुख की भूरी लोम-राशि काले-चिकने बालों में परिवर्तित हो जाती है। अब बालकों की कोकिल-वाणी सुनने में नहीं आती और उनका क्षीण मधुर स्वर पूर्णतः भारी, मोटा तथा कर्कश हो जाता है। इस अवस्था के अंत तक वर्द्धन लगभग पूर्ण हो जाती है। इस अवस्था के समाप्त होने के पश्चात् आकार में कोई वृद्धि होती दिखलाई नहीं देती, जैसा कि होम्स (Homs) का कथन है, 'Physical stature is not complete before the nineteenth or twentieth year of life‡' अर्थात् शारीरिक आकार १६-२० वर्ष के पूर्व पूर्ण नहीं होता। इस अवस्था के अंत तक लड़कियों की शारीरिक शक्ति ११ वर्ष की अपेक्षा लगभग दुगुनी और लड़कों की तिगुनी हो जाती है।

‡ स्टुअर्ट एच० रोव० 'दी फ़िज़ीकल नेचर आफ़ दी चाइल्ड' पृष्ठ १२१-१२२

३

बच्चों के रोग और उनके उपचार

बढ़न—जैसा कि पीछे बताया जा चुका है बच्चों की बढ़न दो तरह से होती है। कभी तो वे सहसा तेजी से बढ़ते हुए दिखाई देते हैं और कभी उनकी बढ़न रुकती हुई-सी मालूम होती है जिसे हम दृढ़ होने का समय कह सकते हैं। ये दोनों अवस्थाएं बारी बारी से एक दूसरे के बाद आती हैं। प्रत्येक बालक जीवन में तीन बार बढ़ता हुआ और तीन बार दृढ़ होता हुआ मालूम होता है, जिसका विस्तार-पूर्वक वर्णन पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। यह निर्विवाद है कि दृढ होने की अवस्था की अपेक्षा शीघ्र बढ़न की अवस्था में शरीर के अवयवों तथा शक्तियों पर अधिक भार पड़ता है और साथ ही साथ बढ़न में लगे रहने के कारण उन्हें शरीर को दृढ़ करने का अवसर भी कम मिलता है। अतः शीघ्र-बढ़न की अवस्था में रोग भी अधिक होते हैं।

रोगः—रोग की शरीर से एक तरह की लड़ाई है। यद्यपि कभी-कभी रोग यों ही हो जाया करते हैं, लेकिन शरीर में यदि किसी कारण से दुर्बलता आजाती है, तो वे बहुत जल्दी आ दबाते हैं। ज्यों-ज्यों शरीर में शक्ति बढ़ती जाती है; त्यों-त्यों रोग होने का डर भी कम होता जाता है। शरीर में सब से कम शक्ति बचपन में होती है। इसलिये उस समय में रोग भी अधिक होते हैं। ज्यों-

ज्यों बच्चे बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों शरीर में रोग से लड़ने की शक्ति भी बढ़ती जाती है। इसलिये छोटे बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चों को रोग कम होते हैं। मौत के लेखे से पता चलता है कि सब से अधिक बच्चे १ वर्ष तक, इससे कम १ से ५ वर्ष तक और सबसे कम ६-७ से ११-१२ वर्ष तक मरते हैं। इस समय तक बालकों में रोग से लड़ने की शक्ति काफ़ी बढ़ जाती है। इसलिये इसके बाद कुछ साधारण रोग तो अवश्य होते हैं परन्तु मृत्यु का उतना डर नहीं रहता। ७ साल तक होने वाले रोग इतने भयानक होते हैं कि यदि उनसे बच्चा बच भी जाता है तो वे उसके आंख-कान इत्यादि किसी शरीर-अवयव पर कोई ऐसा चिह्न छोड़ जाते हैं कि बड़े हो जाने पर भी आसानी से बताया जा सकता है कि इसको बचपन में यह रोग हुआ है। जैसे चेचक में मुंह पर दाग रह जाते हैं और कोई २ तो इसमें काने तथा बहरे तक हो जाते हैं। इन रोगों में एक अच्छाई भी है कि वे जिन बच्चों को एक बार हो जाते हैं उनको प्रायः दुबारा नहीं होते और यदि होते भी हैं तो इतना भयानक रूप धारण नहीं करते। यही कारण है कि डाक्टर उन बच्चों के टीका नहीं लगाते जिनके एक बार चेचक निकल चुकी होती है।

आयु और उसमें होने वाले रोगः-शीघ्र बढ़न की पहली अवस्था अर्थात् पैदा होने से तीन वर्ष तक। एक साल तक के बालक को दूध के रोग होते हैं जैसे मुंह, पेट, सूखा, फोड़े-फुन्सी, मुंहा, फसली बुखार, आंखें दुखना इत्यादि। दांत निकलने के पहले सात

महीने की आयु में प्रायः फोड़े-फुंसी, मुंह-पेट, आंखें उठना, सर्दी, मुहाँ इत्यादि और १ से ३ साल तक दस्त, जिगर, सूखा खसरा, निमोनिया आदि होते हैं। मुंहा, सूखा, खसरा और आंखें उठना छूत के रोग हैं। इनके रोगी से बच्चों को अलग रखना चाहिए। मुहाँ जूठा पानी पीने से, खसरा सांस से और आंख दुखना पहनने के कपड़ों से फैलते हैं।

दृढ़ होने की पहली अवस्था अर्थात् ३ से ५ वर्ष तकः—क्योंकि अभी बच्चों में शक्ति कम होती हैं इसलिये कभी तो खसरा, निमोनिया इत्यादि ३ साल तक होने वाले रोग बाद में भी चलते रहते हैं और कभी ५ से ७ साल तक या शीघ्र बढ़न की दूसरी अवस्था में होने वाले रोग कुछ जल्दी आरम्भ हो जाते हैं।

शीघ्र बढ़न की दूसरी अवस्था अर्थात् ५ से ७ वर्ष तकः—प्रायः इसमें जुकाम, तरह-तरह के बुखार और खसरा, काली खाँसी, कनवर, चेचक, मोतीझरा, डिफ़थीरिया इत्यादि छूत के रोग होते हैं। इनमें खसरा और काली खांसी का सम्बन्ध गले से है। कभी-कभी इनके आराम हो जाने पर भी सांस-नली में कुछ असर बाकी रह जाता है जिससे खांसी बढ़ते-बढ़ते सांस या क्षयरोग तक हो जाता है। काली खांसी भी उड़कर लगने वाला रोग है। इसके रोगी के साथ बच्चों को उठने-बैठने, खेलने-कूदने, खाने-पीने न देना चाहिए। डिफ़थीरिया भी बहुत खराब रोग है। उसमें मौत बहुत जल्दी होती है। इसलिये जैसे हो इसके उपचार की चिन्ता करनी चाहिए। इसकी खास पहचान मुंह का तमतमा जाना, गले का

रुंध जाना, कोई चीज निगल न सकना इत्यादि है। यह गंदी हवा से बहुत जल्दी बढ़ता है और थूक से फैलता है। इसके कीटाणु सांस में बहुत दूर तक तो नहीं पहुंच पाते, लेकिन रूमाल आदि से कपड़ों तक जरूर पहुंच जाते हैं। चेचक सूखी हुई पपड़ी से फैलती है। इसलिये जब तक पपड़ी सूखकर न उतर जाय दूसरे बच्चों को रोगी और उसके कपड़ों से अलग ही रखना चाहिये। इस अवस्था में कभी-कभी दूध के दांत उखड़ते समय मसूड़े भी पक जाते हैं। इसलिये दांतों को साफ रखना चाहिए।

दृढ़ होने की दूसरी अवस्था अर्थात् ७ से ११-१२ वर्ष तक:-इसमें पुराने रोगों के फिर से उलट पड़ने का बहुत डर रहता है। इस समय प्रायः मोतीझरा आदि छूत की कठिन बीमारियाँ होती हैं। इसलिये जब तक रोगी के शरीर में पूरी तरह शक्ति न आजाय उससे अधिक परिश्रम न लेना चाहिए। कभी-कभी खसरा आराम होने के बहुत दिनों बाद भी कान बहने लगता है। किसी-किसी बालक के टांसिल भी बढ़ जाते हैं और उसे एडीनाइड्ज रोग हो जाता है। इसकी पहचान यह है कि बालक मुंह फैलाये हुए बेवकूफ सा बैठा रहता है, मुंह से साँस लेता है, उसे जुकाम जल्दी-जल्दी होता है। वह बहुत देर तक पढ़-लिख नहीं सकता और बहुत जल्दी थक जाता है। इसमें कान बहने से कभी-कभी बालक बहरा तक हो जाता है। बहरापन कभी-कभी कान का पर्दा फट जाने से भी हो जाता है। इसलिये बालकों के कान में 'कानावाती कानावाती कुर्र' करने के बहाने जोर से किल्ली

न मारनी चाहिए। और न उनको सींक, दियासलाई आदि से कान कुरेदने देना चाहिए। यदि बच्चा गाने से भागे लेकिन अपना नाम जल्दी सुन ले, तो समझ लेना चाहिए कि वह बहरा है। प्रायः बालक एक कान से बहरे होते हैं। बालक के कान में कानाफूंसी की तरह बहुत धीरे से १६–२६, २१–३१, २५–३५, ७६–८६ इत्यादि कहकर या घड़ी की टिक-टिक सुना सुनाकर हम बड़ी आसानी से पता लगा सकते हैं कि बालक कौन-से कान से बहरा है। बहरे बालकों को पढ़ने के बदले लिखने का काम ज्यादा करना चाहिए। प्रायः लोग बालकों के कान उमेठा करते हैं और माँ-बाप गहना पहनाने के लिये लड़कियों के कान छेदा करते हैं। इससे कान पक जाते हैं। कान उमेठने या छेदने के लिए नहीं अपितु सुनने के लिये हैं।

शीघ्रबढ़न की तीसरी अवस्था अर्थात् ११ से १५–१६ वर्ष तक–

इस वक्त चेचक, काली खाँसी, खसरा, मोतीझरा इत्यादि खून के साधारण रोग हो जाते हैं। इस आयु में लड़कियाँ महीने से बैठने लगती हैं। उन दिनों उनसे अधिक परिश्रम न लेना चाहिए। बचपन में पढ़ते-लिखते समय ठीक जगह कापी-किताब आदि न रखने या ठीक तरह न बैठने से प्रायः बालकों की कमर बुढ्ढों की तरह झुक जाती है, कूबड़ निकल आता है, सीना सिकुड़ जाता है और आँखें कमजोर हो जाती हैं जिससे पास या दूर की चीज साफ नहीं दिखाई देती। इसलिए यह देखना चाहिए कि बालक लेटकर न पढ़े, हाथ गाल पर और कोहनी डेस्क आदि पर टेक

कर न पढ़े-लिखे। कापी टेढ़ी करके एक तरफ को झुककर न लिखे। इतना भारी बस्ता स्कूल न ले जाय कि बोझ के मारे उसको एक ओर झुकना पड़े—इसके लिये उसे हिन्दी-उर्दू आदि उसकी मातृ-भाषा में टाइमटेबिल बना देना चाहिए। वह कमर झुकाकर न बैठे। रोशनी उसके सामने या दायें से न आकर ऊपर, पीछे या बाँये से आये। कापी या किताब आँख से लगभग एक फुट से अधिक पास या दूर न रखनी चाहिए।

दृढ़ होने की तीसरी अवस्था अर्थात् १५-१६ से १९-२० वर्ष तकः—

इस समय शरीर में शक्ति काफ़ी बढ़ जाती है और बीमार पड़ने का अधिक डर नहीं रहता। हाँ, कभी-कभी पिछली कमजोरी या वंशानुगत कारणों से क्षय रोग हो जाता है। इसके होते ही रोगी को अलग कर देना चाहिए। क्षय रोग के कीटाणु कफ़ में होते हैं। जब कफ़ खुश्क हो जाता है, तो वे धूल के साथ उड़कर हवा में मिल जाते है और सांस के ज़रिये फेफड़ों में पहुंच जाते हैं। इसलिये फ़र्श, मेज, कुर्सी इत्यादि साफ रखने चाहिएं और साफ हवा आने के लिये खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिएँ। कभी-कभी फ़र्श को फ़िनाइल से धो देना भी अच्छा है।

इस आयु में कुछ बालक ऐसे भी पाये जाते हैं जिनमें यों तो कोई रोग दिखाई नहीं देता लेकिन फिर भी उनका रंग पीला पड़ता जाता है; गाल पिचक जाते हैं। उनको कब्ज की शिकायत रहती है और दिन प्रति दिन बराबर दुबले और चिड़चिड़े होते जाते हैं। उनको घर से बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता और वे बड़ी

जल्दी थक जाते हैं। यह दशा बीड़ी–सिगरेट की अति, खाना पीना ठीक तरह न मिलने, बहुत पढ़ने-लिखने, पूरी नींद न सोने, किसी कुटेव में पड़ जाने इत्यादि से हो जाती है। प्रायः बालक उल्टा-सीधा खाना खाकर स्कूल को झपटते हैं, जिससे खाना अच्छी तरह नहीं पच पाता। खाना हमेशा धीरे-धीरे तसल्ली से खाना चाहिए और खाना खाने के बाद दो-चार मिनट आराम कर लेना चाहिए। इस अवस्था में बालकों को खेलने-कूदने, व्यायाम करने, आपस में मिलने-जुलने, मनोरंजक पुस्तकों के पढ़ने आदि में लगाने के साधन उनके अभिभावकों को जुटाने चाहिएं। इस अवस्था में बालकों का जितना अधिक ध्यान शरीर और मन के विकास की ओर लगाया जायगा उतना ही उन्हें बुरी आदतों से बचाया जा सकता है। इस अवस्था में उन्हें एकान्त तथा आराम कम से कम मिलना चाहिए।

रोगों के सम्बन्ध में विशेष बातें:—क्षय, सूखा, जुकाम, सिर-दर्द साफ हवा न मिलने से, रीढ़ की हड्डी के रोग लिखते-पढ़ते समय ठीक तरह न बैठने से, आँख के रोग किताब, रोशनी आदि ठीक तरह न रखने से और घबड़ाहट दिल पर चोट लगने, तम्बाकू पीने और अपने बड़ों की दशा देखने आदि से बढ़ जाते हैं। इस आयु में प्रायः बालक बीड़ी, सिगरेट आदि पीने लगते हैं। सिगरेट, अपना उदाहरण सामने रखकर, समझा बुझाकर और मुंह या कपड़ों से बदबू आने पर टोककर आसानी से छुड़ाई जा सकती है।

४

बच्चों की शारीरिक-वृद्धि

शरीर-वृद्धि की विशेषताएँ:—

जन्म-जात मानव शिशु-संसार के समस्त शिशुओं से निर्बल होता है। वह साधारण से साधारण आपत्ति से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता। यदि जन्म के पश्चात् उसे उसी पर छोड़ दिया जाय और उसकी देख-रेख न की जाय, तो उसका दो-चार घण्टे भी जीवित रहना कठिन है; परन्तु वह १६-२० वर्ष में ही इतनी उन्नति कर जाता है और बलवान हो जाता है कि संसार के समस्त प्राणियों से आगे निकल जाता है। अतएव मानव-शिशु की शारीरिक तथा मानसिक वृद्धि अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक तथा तीव्र गति से होती है और कुछ ही वर्षों में समाप्त हो जाती है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शिशु तथा प्रौढ़ मनुष्य में कोई विशेष अन्तर ही नहीं होता और बच्चा पहले से ही इतना पूर्ण रहता है कि थोड़ी-सी वृद्धि से ही उसका पूर्ण विकास हो जाता है। टर्मन (Terman) का कहना है कि "The child is different from the adult in every fibre, every blood corpuscle, every bone cell and in relative proportions of all parts"‡ अर्थात् प्रत्येक तंतु,

‡ पाल हैनली फर्फ; 'दी ग्रोइंग बॉय, पृष्ठ ७

प्रत्येक रक्त-अणु, प्रत्येक अस्थि-कोष्ठ और उसी अनुपात से समस्त शरीर-अवयव में शिशु प्रौढ़ से भिन्न है। प्रौढ़ होने पर जन्म-जात शिशु की अपेक्षा उसका शिर दूना, धड़ तिगुना, भुजाएं चौगुनी, पैर पंचगुने, ऊंचाई तिगुनी, मोटाई चौगुनी और तौल सोलह-सत्रह गुना हो जाता है। शरीर-वृद्धि-सम्बन्धी निम्न लिखित विशेषताएं ध्यान में रखनी चाहिएं:—

(१) शरीर-वृद्धि न तो जीवन भर होती है और न सदैव एक ही गति से होती है, अन्यथा मनुष्य बढ़ते-बढ़ते २५–३० फुट लम्बा और ५–७ फुट चौड़ा होकर पूरा देव हो जाता। शरीर-वृद्धि १६-२० वर्ष की अवस्था तक पूर्ण हो जाती है और कभी तीव्र गति से, विशेषतः प्रारम्भ में, और कभी शनैः-शनैः होकर अपनी अन्तिम सीमा को पहुंच जाती है।

(२) कोई शरीर-अवयव तीव्रता से बढ़ता है और कोई शनैः-शनैः। किसी की वृद्धि शीघ्र पूर्ण हो जाती है और किसी की देर से; कोई एक समय बढ़ता है और कोई दूसरे समय, अर्थात् समस्त माँस-पेशियाँ, अस्थियाँ तथा अन्य शरीर-अवयव क्रमानुसार समान गति से एक ही समय अथवा एक ही अनुपात से नहीं बढ़ते। यदि ऐसा होता तो प्रौढ़ मनुष्य एक बड़े भारी शिर, बड़ी भारी तोंद तथा छोटे-छोटे हाथ-पैरों वाला एक विचित्र वनमानुष होता; क्योंकि जन्म के समय बच्चे का शिर सीने से बड़ा (समस्त शरीर का लगभग चौथाई), धड़ हाथ-पैर से बड़ा, पेट बड़ा तथा फूला हुआ एवं भुजायें टांगों से बड़ी होती हैं। दो-एक उदाहरणों से

अन्य बातों का भी स्पष्टीकरण हो जायगा। यथा, शिर वृद्धि का तिहाई भाग प्रथम ६ मास में, द्वितीय तिहाई तीन वर्ष तक और शेष तिहाई लगभग ८ वर्ष की आयु तक पूर्ण हो जाता है। अतः ८ वर्ष तक बच्चे का शिर मनुष्य के शिर के बराबर हो जाता है और तत्पश्चात् १२-१४ वर्ष तक अप्रत्यक्ष रूप से बहुत शनैः-शनैः बढ़ता है एवं पूर्ण होने पर लगभग सेर-डेढ़ सेर हो जाता है। कूल्हे की अस्थियाँ १५-१६ वर्ष की आयु में सहसा बढ़ जाती हैं। फेफड़े १२ से १६ वर्ष तक अधिक बढ़ते हैं; ७-८ वर्ष की आयु में दिल अन्य शरीर-अवयवों की अपेक्षा कम बढ़ता है, यही कारण है कि ७–८ वर्ष का बच्चा शीघ्र थक जाता है। अभिभावकों तथा शिक्षकों को चाहिए कि किसी शरीर-अवयव-विशेष की अकस्मात् वृद्धि के समय उससे अधिक परिश्रम न लें; अन्यथा अधिक भार पड़ने के कारण उसकी पुष्टि नहीं हो पाती और वह दुर्बल रह जाता है।

(३) लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की मांस-पेशियां, अस्थियां आदि अधिक शीघ्र बढ़ती तथा कड़ी होती हैं। यही कारण है कि लड़कों में किशोरावस्था ११ वर्ष के पश्चात प्रारम्भ होती है, परंतु लड़कियों में १० वर्ष के पश्चात् ही प्रारम्भ हो जाती है। ११ वर्ष के लड़के-लड़कियों में मानसिक भेद उतना नहीं होता, परन्तु शारीरिक भेद बहुत अधिक हो जाता है। अतएव उन स्कूलों में जहाँ सहशिक्षा है अर्थात् लड़के-लड़कियाँ दोनों एक साथ पढ़ते हैं, पौगण्ड तथा किशोरावस्था के संधिकाल में लड़के-लड़की दोनों को एक ही विषय में समान गति से काम करते देखकर और उनकी

मानसिक शक्तियों में कोई विशेष अन्तर न पाकर प्रायः अध्यापक यह समझ बैठते हैं कि उनकी शारीरिक शक्तियों में भी कोई भेद नहीं है और दोनों से एक-सा शारीरिक परिश्रम लेते हैं तथा उनको एक साथ एक ही खेल खिलाते और व्यायाम कराते हैं। वास्तव में यह उनकी भूल है। इस अवस्था में लड़कियाँ लड़कों से शीघ्र थक जाती हैं। अतः इस अवस्था में हम उनको पढ़ाने-लिखाने में भले ही साथ रख लें, परन्तु खेल तथा व्यायाम में उनको एक साथ रखना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। इस समय लड़कियों के व्यायाम के अभ्यास तथा खेल लड़कों से भिन्न और सरल होने चाहिएँ।

(४) प्रायः देखा गया है कि मोतीझरा, निमोनिया आदि कठिन रोगों से केवल बढ़न ही नहीं रुक जाती, अपितु कभी-कभी अस्थियों पर रोग-चिन्ह भी पड़ जाते हैं और जब तक पूर्ववत् साधारण स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो जाता, वे अस्थियों पर पड़े रहते हैं। उदाहरणार्थ किसी प्रकार के रोग, व्यतिक्रम, मानसिक क्षोभ आदि से प्रायः नखों पर रेखा-चिन्ह पड़ जाते हैं और जब तक रोग का प्रभाव तथा उसके द्वारा होने वाली दुर्बलता दूर नहीं होती, तब तक वे नखों पर श्वेत खुरेच से पड़े रहते हैं। अतः अभिभावकों तथा शिक्षकों को चाहिए कि जब तक अस्थियों पर इस प्रकार के रोग चिह्न दिखाई देते रहें, बच्चों से अधिक परिश्रम न लें। इससे केवल बढ़न ही देर से नहीं होती, अपितु कभी-कभी रोग के उलट पड़ने का भी डर रहता है।

(५) शारीरिक-विकास में क्षतिपूर्ति भी एक प्राकृतिक नियम है। यदि किसी कारण से किसी बालक का कोई अंग कमजोर या बेकार हो जाता है, तो वह उसकी पूर्ति अन्य अंगों से कर लेता है। उदाहरणार्थ जब किसी मनुष्य का दाहिना हाथ टूट जाता है या किसी कारण से बेकार हो जाता है, तो वह बायें हाथ से लिखना-पढ़ना आदि सब कार्य अच्छी तरह कर लेता है। मैंने एक लकवे के मारे हुए रोगी को पैर के अंगूठे से लिखते हुए देखा है। इतना ही नहीं, एक आदमी तो पैर की अंगुलियों से श्यामपट्ट पर पशु-पक्षियों की बहुत सुन्दर शक्लें तक खींच सकता था और अनेक प्रकार के फूल-पत्ते बना सकता था। कारण यह है कि किसी व्यक्ति का कोई अंग दुर्बल हो जाता है, तो वह सदैव उसके लिए चिंतित रहता है और इस कमी को वह अपने अन्य किसी अंग द्वारा पूरा करने की चेष्टा करने लगता है। फल यह होता है कि वह केवल उस कमी को ही पूरा नहीं कर लेता, अपितु उससे भी कहीं आगे बढ़ जाता है। यही कारण है कि पेड़ की कलम की भाँति टूटी हुई अस्थि जुड़ने पर पहले से अधिक मजबूत हो जाती है।

अस्थि-पंजरः—नवजात शिशु का अस्थि-पंजर कोमल अस्थियों द्वारा और प्रौढ़ का दृढ़ अस्थियों द्वारा निर्मित है। बच्चे की अस्थियाँ शनैः-शनैः बढ़ती तथा दृढ़ होती हैं और यौवनोद्गम काल में लगभग १५ वर्ष तक लड़कियों की तथा लगभग १६ वर्ष तक लड़कों की बहुत-सी अस्थियां पूर्ण हो जाती हैं। बचपन में ये अस्थियां इतनी कोमल होती हैं कि शीघ्र ही लचक जाती हैं और लगभग

एक वर्ष तक तनिक-सी असावधानी से प्रायः बच्चों की हँसली, खवा, हाथ आदि उखड़ जाया करते हैं। अतः छोटे बच्चों से कठिन परिश्रम नहीं कराना चाहिए। हम देखते हैं कि प्रायः २-३ वर्ष तक छोटे बच्चे चलते-चलते गिर पड़ा करते हैं और बैठे-बैठे लेट जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि घुटनों से चलने की अपेक्षा पैरों से चलने तथा खड़े होने में भी बच्चों को अधिक परिश्रम करना पड़ता है और वे शीघ्र थक जाते हैं। इसका प्रत्यक्ष कारण यह है कि जो भार उनको प्रारम्भिक शैशवावस्था में चार पैरों पर सम्भालना पड़ता था वह अब उन्हें दो ही पैरों पर सम्भालना पड़ता है; और चूंकि बच्चों के तलुए छोटे और शरीर का भार-केन्द्र ऊंचा होता है, अतः बच्चों के लिये अधिक समय तक खड़े रहना भी कठिन परिश्रम का कार्य हो जाता है; परन्तु खेलने-कूदने में उनको शीघ्र थकान प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि वे एक ही स्थिति में नहीं रहते; उठने-बैठने, लोटने-पोटने, दौड़ने-धूपने, कूदने-फाँदने आदि में बराबर स्थिति-परिवर्तन करते रहते हैं। स्थिति-परिवर्तन के विषय में एक जर्मन विद्वान् का कहना है 'Change of position or subject is the greatest rest' अर्थात् स्थिति अथवा विषय-परिवर्तन सब से बड़ा विश्राम है। अतः अभिभावकों तथा शिक्षकों को चाहिए कि छोटे बच्चों को अधिक देर तक खड़ा न रखें, जैसा कि प्रायः अध्यापक दण्ड-स्वरूप किया करते हैं। कभी-कभी तो जब से शिक्षा-विभाग द्वारा दण्ड-निषेध नियम बना दिया गया है उससे बचने के लिये प्रायः

अध्यापक बच्चों को ४०–४५ मिनट के पूरे घण्टे भर ही नहीं अपितु कई-कई घण्टे तक बराबर खड़ा रखते हैं अथवा ड्रिल मास्टर ड्रिल के घण्टे में पूरे घण्टे भर बच्चों को खड़ा रखकर ड्रिल-कराते रहते हैं। मेरी समझ से छोटे बच्चों को १५–२० मिनट से अधिक खड़ा नहीं रखना चाहिए। मेरे अनुमान से तीसरी-चौथी कक्षाओं में १५–२० मिनट और पांचवीं-छठी कक्षाओं में २०–२५ मिनट से अधिक ड्रिल नहीं करानी चाहिए। कक्षा में जो बच्चे ५ से ७ वर्ष तक के हों उन्हें १५ मिनट से, जो ७ से १० वर्ष तक के हों उन्हें २० मिनट से, जो १० से १२ वर्ष तक के हों उन्हें २५ मिनट से और जो १२ से १६ वर्ष तक के हों उन्हें ३० मिनट से अधिक खड़े नहीं रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रायः यह भी देखा गया है कि छोटे बच्चों को बहुत देर तक बैठे-बैठे सुस्ती आ जाती है। अतः १०-११ वर्ष की अवस्था तक अर्थात् छठी कक्षा तक अधिकतर कार्यक्रम ऐसा रखना चाहिए जिसमें अध्यापक को कम और विद्यार्थियों को अधिक बोलना अथवा कार्य करना पड़े और साथ ही बच्चों को कभी उठना, कभी बैठना, कभी लिखना, कभी पढ़ना आदि पड़े अर्थात् इस समय शिक्षा-प्रणाली 'कर और सीख' (Learning by doing) होनी चाहिए, क्रिया-शीलता के सिद्धांत (Activity principle) को विशेष महत्त्व देना-चाहिए। बेसिक तथा मांटेसरी शिक्षा-प्रणालियों के आधार-भूत सिद्धांत भी यही हैं। घण्टे भर तक एक ही जगह चुपचाप बैठे-बैठे लेक्चर सुनते रहना छोटे बच्चों के लिये असम्भव ही

नहीं अपितु हानिकारक भी है। कभी-कभी बीच-बीच में कक्षा के समस्त विद्यार्थियों को एक-दो बार उठा-बैठा देना भी अत्यन्त लाभदायक है। व्यायाम के समय एक ही अभ्यास अधिक देर तक नहीं कराना चाहिए अपितु थोड़ी-थोड़ी देर बाद अभ्यास परिवर्तित करते रहना चाहिए। छोटे बच्चों के विषय में एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए। छोटे बच्चों की अंगुलियों की अस्थियाँ तथा मांसपेशियां अत्यन्त निर्बल होती हैं और वे भली भाँति कलम आदि नहीं पकड़ सकते। अतः उन्हें कापी पर लिखाना ठीक नहीं। उनसे श्याम-पट्ट पर लिखाना चाहिए जिससे अंगुलियों की अपेक्षा बाहु पर भार पड़े।

किशोर अवस्था के प्रारम्भ होते ही बालक की अस्थियों में प्रत्यक्ष परिवर्तन होने लगता है। इस समय अस्थियां लम्बी होकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं और उनके सिरे दृढ़तापूर्वक जुड़ जाते हैं। किशोर अवस्था कोमल अस्थियों (Cartileges) की बढ़न के लिए और यौवनोद्गम अस्थि-संयोग के लिए विशेष समय हैं। १५-१६ वर्ष के पूर्व अस्थियां और उनके जोड़ दुर्बल होते हैं। इस समय के पूर्व उन पर अधिक ज़ोर पड़ने से उनके कुरूप हो जाने का डर है। अतः माता-पिता तथा अध्यापकों को किशोर बच्चों से घर अथवा स्कूल में अधिक परिश्रम नहीं कराना चाहिए और न उन्हें अधिक देर तक एक ही स्थिति में रखना चाहिए। प्रकृति-निरीक्षण (Nature study)के घंटे में मिट्टी खोदने, पौधे लगाने, पानी देने आदि में; लकड़ी के काम

(Wood-work) के घंटे में आरी चलाने, रंदा करने, बसूला चलाने, ठोका-पीटी करने आदि में, जिल्दसाज़ी (Book-binding) के घंटे में छेद करने, जिल्दें काटने इत्यादि में किशोर बालकों से और गृह-विज्ञान (Domestic) के घंटे में किशोर बालिकाओं से इतना कठिन परिश्रम न लेना चाहिए कि वे थक जायं। इन घंटों में बालकों के उठने-बैठने की स्थिति पर ध्यान देना भी आवश्यक है।

किशोर अवस्था में रीढ़ की अस्थि की ओर भी ध्यान रखना चाहिए। प्रायः छोटी अवस्था में झुककर बैठने तथा खड़े होने के कारण रीढ़ की अस्थि झुक जाती है और वे बचपन में ही बुड्ढों की तरह कमर झुकाकर चलने-फिरने लगते हैं। रीढ़ की अस्थि अनुचित स्थिति में बैठने-उठने के अतिरिक्त प्रायः थकने के कारण भी झुक जाती है। अतः स्थिति के अतिरिक्त बच्चों के विश्राम का भी ध्यान रखना चाहिए। उनको अधिक समय तक एक ही स्थिति में न रहने देना चाहिए और थकन के समय दो-एक बार उठा-बैठा देना चाहिए। इसके अतिरिक्त बैठने की बेंच या कुर्सी मेज़ से इतनी अधिक नीची अथवा मेज़ या डेस्क इतना अधिक ऊंचा, अधिक पास या दूर भी न होना चाहिए कि बच्चे उचित प्रकार बैठकर लिख भी न सकें। माता-पिता तथा अध्यापकों के लिए बच्चों के लिखने-पढ़ने के सामान का उचित प्रबन्ध करना परमावश्यक है।

रक्त-संचारः—बढ़न के समय मस्तिष्क तथा रक्त-संचार पर

अधिक भार पड़ने से बच्चों में प्रायः चिड़चिड़ापन, व्याकुलता, घबराहट आदि उत्पन्न हो जाते हैं। अतः अभिभावकों तथा शिक्षकों को चाहिए कि बच्चों के खाने-पीने, सोने-उठने, कार्य-विश्राम इत्यादि की ओर विशेष ध्यान रखें। माता-पिता को चाहिए कि बच्चों को स्कूल जाने से कम से कम इतना पूर्व खाना अवश्य खिलायें कि उन्हें दौड़ना न पड़े और शिक्षकों को चाहिए कि उन्हें घर के लिये इतना काम न दें कि सोने के समय तक काम करना पड़े। सोने के एक घंटा पूर्व पढ़ना-लिखना छोड़ देना और तत्पश्चात् उचित तथा आवश्यक समय तक सोना नितांत आवश्यक है। ड्रमंड के अनुसार नींद-परिमाण ‡ निम्न लिखित हैं:—

आयु	समय
जन्म से १ मास तक	२० से २२ घण्टे तक
१ से ६ मास तक	१६ से १८ घण्टे तक
६ से १२ मास तक	१४ से १६ घण्टे तक (११-१२ घण्टे रात्रि में और शेष दो बार दिन में)
१ से २ वर्ष तक	१२ से १४ घण्टे तक (एक बार दिन में)
२ से ६ वर्ष तक	१२ घण्टे
६ से १० वर्ष तक	११ घण्टे
१० से १५ वर्ष तक	९-१० घण्टे
१५ वर्ष के उपरान्त	७-८ घण्टे

किशोर अवस्था में रक्त का दबाव बढ़ने लगता है, अतः बचपन

‡ डब्लू० बी० ड्रमंड 'दी चाइल्ड' पृष्ठ ४२

की अपेक्षा इस समय हृदय तथा नाड़ी की गति मन्द पड़ जाती है। अतएव बालकों को इस समय ऐसे खेल खिलाने चाहिएं जिनसे रक्त-संचार की गति बढ़े और दिल दृढ़ हो, उदाहरणार्थ हॉकी, फुटबॉल, लम्बी दौड़ इत्यादि। प्रायः इस समय लगभग ६ से १४ वर्ष के बीच इच्छाओं के तृप्त न होने, अधिक चिन्ता, मानसिक क्लेश, क्षोभ, क्रोध, थकन, इत्यादि कारणों से बालकों में हुक्का, सिगरेट, बीड़ी आदि पीने की आदत पड़ जाती है। कारण कि वे यह समझते हैं कि तम्बाकू पीने से क्षणिक शांति मिलती है, यद्यपि इसका परिणाम बहुत बुरा होता है। सिगरेट-बीड़ी पीने से रक्त-संचार उचित प्रकार नहीं हो पाता, दिल कमजोर हो जाता है और अनेकों स्नायु-सम्बन्धी रोग हो जाते हैं। इस कुप्रवृत्ति को, कारण मालूम करके जिस प्रकार भी हो, समूल नष्ट करना ही हितकर है। अन्यथा यह बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ जाती है कि अन्त में दुखदायी होने पर भी इसका छूटना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कष्टसाध्य अवश्य हो जाता है।

पाचन–संस्थान (Alimentary System):– जन्म-जात शिशु के दांत मसूड़ों के भीतर होते हैं। ये दांत ८ वें ९ वें मास में निकलने आरम्भ होते हैं और वर्ष सवा वर्ष में प्रायः ४–६ दांत निकल आते हैं। जब तक दांत नहीं निकलते लार भी कम बनता है और बच्चों में श्वेतसार पचाने की शक्ति नहीं होती। अतः जब तक रोटी पूरी कुतरने के लिए उसके ऊपर-नीचे के ४–६ दांत न निकल आवें उसे दूध, सब्ज़ियाँ और फलों का रस पेय पदार्थों

के अतिरिक्त अन्न आदि नहीं देना चाहिए। आधुनिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि केवल माता के दूध पर भी पले हुए बच्चे उतने स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट नहीं होते जितने दूध के साथ, फलों और सब्जियों के रस, अरारोट वगैरह के साथ पालने पर होते हैं। प्रायः मातायें दूध न होने अथवा लाड़-प्यार के कारण एक-दो दांत निकलते ही अथवा बच्चे के बैठने या घुटनों चलने लगते ही उसे खस्ता भुरभुरा पकान्न, दाल, खीर, खिचड़ी आदि भारी चीजें खिलाने लग जाती हैं। ऐसा करना ठीक नहीं, इससे आमाशय पर समय से पूर्व अधिक भार पड़ जाता है, जिससे बच्चे की पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है और उसका पेट अथवा जिगर आदि बढ़ जाता है। फल-स्वरूप कभी उसका पेट अफ़र जाता है, कभी दस्त हो जाते हैं और कभी मुंह आजाता है। इसके अतिरिक्त छोटे बच्चों को रबड़ की निपिल आदि अथवा अंगूठा भी अधिक नहीं चुसाना चाहिए, क्योंकि इससे दांत टेढ़े-मेढ़े निकलते हैं। दांत निकल आने पर भी भोजन का उचित प्रबन्ध रखना चाहिए, अन्यथा दूध के दांत शीघ्र खराब हो जाते हैं और सूखा आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

ग्रंथि-संस्थान (Glandular System)—स्वादिष्ट भोजन देखकर हमारे मुंह से लार टपकने लगती है, किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु की खबर सुनते ही आँखों से अश्रु-धारा बह निकलती है। यह लार अथवा अश्रु कहां से आते हैं? मनुष्य के शरीर में अनेकों ग्रंथियाँ हैं, जिनसे एक प्रकार का रस निकलता है। यह

रस नली अथवा रक्त-धारा द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है और जहां इसकी आवश्यकता होती है पहुंच जाता है। यह रस शारीरिक, मानसिक तथा भावात्मक तीनों प्रकार की वृद्धि में अत्यन्त सहायक है। यहाँ हम इसकी केवल शारीरिक वृद्धि की दृष्टि से विवेचना करेंगे। यह रस कहीं भोजन पचाने में, कहीं रक्त-संचालन में और कहीं छूत के रोगों को रोकने में काम आता है। युवावस्था प्रारम्भ होते ही, लगभग १४ वाँ १५ वाँ वर्ष लगते ही, आँखों में ज्योति, मुख पर लावण्य, छाती में अकड़, चाल में गर्वपूर्ण झूम, देह में कमनीयता इत्यादि परिवर्तन इसी रस का फल हैं। ये ग्रंथियाँ तीन प्रकार की होती हैं नलीदार, लिम्फ़ेटिक (Lymphatic) तथा नली-हीन। सैलाइवरी ग्लैंड्स (Salivary Glands) नलीदार ग्रथियों के सुन्दर उदाहरण हैं। इनसे एक प्रकार की लार निकलती है जिसे सैलाइवा (Saliva) कहते हैं। यह लार भोजन पचाने में बड़ी सहायता देती है। लिम्फ़ेटिक ग्रंथियों का स्थान विशेष नहीं है, अपितु ये सारे शरीर भर में फैली हुई हैं। ग्रंथियाँ प्रत्यक्षतः दिखाई नहीं देतीं, परन्तु फोड़े-फुन्सी, चोट, प्लेग आदि रोगों में बढ़ जाती हैं और स्पष्टतः दिखाई देने लगती हैं। रोग में इनके बढ़ जाने का कारण यह है कि जब लिम्फ़ेटिक सिस्टम (Lymphatic System) में किसी जगह रोग के कीटाणु पहुंच जाते हैं, तो वे श्वेताणुओं अर्थात् श्वेत रक्त की टिकियों (Corpuscles) से युद्ध करते हैं जिससे उस जगह रक्त अधिक मात्रा में आजाता है और वह जगह सूज जाती

है और लाल हो जाती है। यदि श्वेताणु प्रबल होते हैं, तो वे रोग-कीटाणुओं को मार डालते हैं और सूजन तथा लाली कम हो जाती है और यदि रोग-कीटाणु प्रबल होते हैं, तो लिम्फ़ेटिक-ग्रंथि बढ़ जाती है और स्पष्टतः दिखाई देने लगती है, जिसे हम गिल्टी अथवा गिल्ट पड़ जाना कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर एक प्रकार का किला है जिसकी रक्षा के लिए उसमें श्वेताणुओं की सेना रहती है। रोग-कीटाणु एक प्रकार की बाहरी शत्रु-सेना है, जो कि शरीर पर चढ़ाई करती है। जो सेना प्रबल होती है उसी की विजय होती है। यदि रोग-कीटाणु विजयी होते हैं तो रोग प्रबल हो जाता है और यदि श्वेताणु प्रबल होते हैं तो वे रोग कीटाणुओं का संहार कर डालते हैं और रोग नहीं होने पाता। अतएव लिम्फ़ेटिक-ग्रंथियाँ शारीरिक विकास में आने वाले अवरोधों का निवारण करने में बहुत सहायता देती हैं। नली-हीन ग्रंथियाँ मस्तिष्क, गले, गुरदे तथा अंडकोष आदि में पाई जाती हैं। इनसे भी एक प्रकार का रस निकलता है जिसे हारमोन (Harmone) कहते हैं। चूंकि नली-हीन ग्रंथियों में रस-संचालन के लिए नलियाँ नहीं होतीं, अतः इनसे निष्क्रमित रस को रक्त-धारा अपने में मिला लेती है। नली-हीन ग्रंथियाँ मुख्यतः चुल्लिका या थाइरॉइड (Thyroid) पीयूष या पिट्यूटरी (Pitutary) उपवक्क या सुप्रा-रीनल (Supra-renal) आदि प्रकार की होती हैं। थाइरॉइड ग्रंथियाँ गले में सामने की तरफ वायु-नली के दोनों ओर पाई जाती हैं। अस्थि-वृद्धि तथा शरीर-पुष्टि का उनसे घनिष्ठ

सम्बन्ध है। यदि इनसे उचित प्रकार रस नहीं निकलता तो अनेकों रोग उत्पन्न हो जाते हैं और शारीरिक बढ़न रुक जाती है। इसके अतिरिक्त थाइरॉइड ग्रंथियों से निष्क्रमित रस के द्वारा मानव के विकासवाद पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनसे निष्क्रमित रस में आयोडीन (Iodine) भी ठीक उसी अनुपात से होता है जितना समुद्र-जल में होता है। इसी आधार पर हक्सले (Huxley) ने मानव का विकास मच्छ से माना है और थाइरॉइड तथा पैरा-थाइराइड (Parathyroid) ग्रंथियों को मछली के पत्तों (Fins) का अवशेष चिह्न बताया है। हक्सले के मत की पुष्टि दशावतार द्वारा भी होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि दशावतार मानव-विकास के द्योतक हैं। दशावतारों में से एक मच्छ अवतार भी है। अतः मच्छ भी मानव-विकास की एक अवस्था हुई। पिट्यूटरी ग्रंथियां मस्तिष्क-केन्द्र में स्थित हैं। ये सेम के बीज के समान होती हैं। इनके दो भाग होते हैं—बाह्य तथा आभ्यंतरिक। इनका शारीरिक बढ़न से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब बाह्य भाग से कम रस निकलता है, तो प्रायः बालकों की बढ़न रुक जाती है और वे नाटे रह जाते हैं और जब अनावश्यक रूप से रस निकलता है, तो वे आवश्यकता से अधिक लम्बे हो जाते हैं और लम्बे बांस की भाँति बेडौल और पूरे देव मालूम होते हैं। आभ्यंतरिक भाग का यौवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि इससे आवश्यकता से अधिक रस निकलता है, तो यौवन-सूचक चिह्न युवावस्था आने के पूर्व ही—यहाँ तक कि कभी-कभी तो ७–८ वर्ष की अवस्था में ही— प्रकट होने

लगते हैं और माता-पिता तथा अध्यापक उसे किसी कुप्रवृत्ति तथा कुसंग का फल समझकर बालक को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। इसके विपरीत यदि रस कम मात्रा में निष्क्रमित होता है तो ये चिह्न यौवन-काल प्रारम्भ होने पर भी प्रकट नहीं होते और युवक की जांघें तथा कपोल मोटे हो जाते हैं एवं जननेंद्रिय-वृद्धि रुक जाती है तथा वह नपुंसक हो जाता है। सुप्रा-रीनल ग्रंथियों से भी उचित प्रकार रस निष्क्रमित न होने से बालकों में अनेकों रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनसे कम रस निकलने से बालक में सुस्ती रहती है और अधिक रस निकलने से उसकी पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है।

किशोरावस्था के आते ही प्रकट होने वाले यौवन-सूचक शारीरिक चिह्न जैसे मुख, बगल आदि स्थानों में बालों का आना, कोकिल-तुल्य कोमल कंठ का मोटा, भद्दा तथा कर्कश हो जाना, जननेन्द्रिय तथा वक्षस्थल का बढ़ना, रजोदर्शन आदि, अंडकोष अथवा बच्चे-दानी में स्थित नली-हीन ग्रंथियों से निष्क्रमित रस के फल हैं। जिस प्रकार नाक, कान, जिह्वा, इत्यादि में ग्रंथियाँ स्थित हैं, उसी प्रकार अण्डकोषों में भी कुछ ग्रंथियाँ हैं। इनसे दो प्रकार का स्राव होता है, एक बाह्य और दूसरा आंतरिक। उक्त यौवन-सूचक चिह्नों का सम्बन्ध इन आभ्यंतरिक स्राव से है। इस प्रकार ग्रंथियों से निष्क्रमित उक्त स्राव के उचित प्रकार न होने से बच्चों में अनेकों रोग हो जाते हैं जिससे बच्चे दुर्बल हो जाते हैं और शीघ्र थक जाते हैं। अतः कार्याधिक्य, निर्धनता, उचित भोजन न

मिलने, स्थान के अधिक गर्म-ठंडा अथवा तर होने इत्यादि के अतिरिक्त शारीरिक थकन का एक मुख्य कारण ग्रंथि-संस्थान में होने वाला स्राव भी है।

मानसिक-वृद्धि

मानसिक वृद्धि की विशेषताएं—(१) यद्यपि मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणियों की शरीर-रचना तथा स्नायु-संस्थान में कोई विशेष अंतर नहीं है, तथापि जन्म के समय पशु-पक्षियों के बच्चे मानव-शिशुओं से कहीं अधिक बुद्धिमान मालूम होते हैं; परन्तु कुछ समय पश्चात् बड़ा अंतर पड़ जाता है, मानव-शिशु पशु-पक्षियों के बच्चों से बहुत कुछ आगे बढ़ जाता है। इसका कारण है मानसिक-वृद्धि तथा बुद्धि में भेद। पशु-पक्षियों की मानसिक तथा बुद्धि-वृद्धि अल्प मात्रा में होती है और शीघ्र ही समाप्त हो जाती है, परंतु मनुष्यों की बुद्धि का विकास शनैः शनैः और अधिक समय तक होता है। यही कारण है कि पशु-पक्षियों के बच्चे मनुष्यों के बच्चों की अपेक्षा शीघ्र चलना-फिरना, खाना-पीना इत्यादि सीख लेते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी एक प्राकृतिक नियम है कि जिन बच्चों का शिक्षा काल (Probation period) जितना ही लम्बा होता है, उतना ही उनकी बुद्धि का विकास भी होता है। रास का कथन है कि '‡The higher the position in the scale of intelligence of which the animal ultimately rises, the longer is the period of

‡ जेम्स रास; 'माडर्न एजुकेशनल साइकोलाजी' पृष्ठ १०२

immaturity,' अर्थात् जितनी ही बुद्धि तीव्र होती है, उतना ही शिक्षा-काल लम्बा होता है। चूंकि पशु-पक्षियों के बच्चों का शिक्षा-काल मानव-शिशुओं की अपेक्षा शीघ्र समाप्त हो जाता है; अतः पशु-पक्षी मनुष्यों की अपेक्षा कम बुद्धिमान होते हैं। उक्त मानसिक कारणों के अतिरिक्त एक शारीरिक कारण भी है। जीव-विज्ञान-वेत्ताओं का मत है कि मानव-मस्तिष्क में स्थित कोषों (Cells) से निष्क्रमित तंतुओं में वृद्धि होने की शक्ति है, परन्तु मनुष्येत्तर प्राणियों में नहीं है। अतएव यद्यपि जन्म के समय पशु-पक्षियों के मस्तिष्क में मनुष्यों के मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक तन्तु होते हैं, तथापि कुछ वर्ष उपरांत अनुभव द्वारा मनुष्यों के मस्तिष्क में स्थित तंतुओं की संख्या पशु-पक्षियों के मस्तिष्क में रहने वाले तंतुओं से कहीं अधिक हो जाती है। यही कारण है कि मनुष्य पशु-पक्षियों से तीव्र बुद्धि होता है।

(२) बीमारी से उठने के पश्चात् प्रायः कुछ दिन तक दिमाग खाली-खाली-सा मालूम होता है। आँख-कान आदि उचित प्रकार पूर्ववत् कार्य नहीं करते और थोड़ा-सा कार्य करने पर ही थकान आजाती है। जन्माष्टमी, गणेश-चौथ आदि का निर्जल व्रत रखने पर उस दिन मध्याह्न काल के पश्चात् कोई कठिन मानसिक कार्य नहीं हो पाता। इसके विपरीत शरीर स्वस्थ तथा नीरोग होने की दशा में हमारा प्रत्येक कार्य में मन लगता है और हम डटकर पढ़ाई--लिखाई आदि का मानसिक कार्य भी कर सकते हैं। अतः शारीरिक स्थिति का मानसिक दशा पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

वास्तव में शारीरिक तथा मानसिक-वृद्धि अन्योन्याश्रित हैं, जैसा कि रास का कथन है, 'The experience leaves behind it a modification of the mental structure......The engrams resulting from experience do not lie side by side, unrelated to one another, but adhere to form new wholes.†' अर्थात् अनुभव के अनुसार मस्तिष्क की बनावट भी परिवर्तित हो जाती है। अनुभव के कारण होने वाले ज्ञान-तंतु पृथक्-पृथक् नहीं पड़े रहते अपितु एक तंतु-समूह बन जाते हैं। इसके विपरीत 'Mental structure actively determines experience and behaviour urging the individual to notice this rather than that in the environment, to feel in a characteristic way, and to do this rather than that.‡' अर्थात् किसी मनुष्य को क्या देखना, सोचना तथा करना चाहिए इसका निर्णय उसकी मानसिक बनावट द्वारा होता है। सारांश यह है कि शारीरिक वृद्धि का मानसिक वृद्धि पर और मानसिक वृद्धि का शारीरिक वृद्धि पर बहुत प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि शारीरिक तथा मानसिक वृद्धि दोनों एक साथ हों और एक ही गति तथा अनुपात से हों। कारण कि शरीर-विकास का सम्बन्ध अधिकांश जलवायु, व्यायाम तथा आहार से है और बुद्धि-विकास का वंश, वतावरण, शिक्षा, समाज, संस्कृति आदि से है। यही कारण

‡ जेम्स रास, 'माडर्न एजुकेशनल साइकोलाजी' पृष्ठ ४८

है कि बहुत से पहलवान शरीर में तो तगड़े होते हैं, परन्तु बुद्धि से हीन होते हैं और बहुत से मनुष्य देखने-भालने में तो बड़े दुर्बल प्रतीत होते हैं, परन्तु बुद्धि में बड़े तेज़ होते हैं।

(३) शरीर मूर्त है और मन अमूर्त। अतः शरीर-वृद्धि फीते से नापी और तराजू में तोली जा सकती है, परन्तु मानसिक वृद्धि के लिए ऐसा सम्भव नहीं है; तदपि बिने (Binet) की कृपा से सन् १६११ ई० से बुद्धि-परीक्षाओं द्वारा हम किसी भी मनुष्य की बुद्धि उसकी आयु के अनुसार नाप सकते हैं और बता सकते हैं कि उसकी बुद्धि उसकी आयु से कम है अथवा अधिक। बुद्धि वातावरण, शिक्षा, संस्कृति आदि कारणों से आयु से बहुत कुछ आगे-पीछे हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि कोई बालक १५ वर्ष का है, तो यह आवश्यक नहीं है कि उसकी बुद्धि भी १५ वर्ष की ही हो, बुद्धि-परीक्षा द्वारा उसकी आयु १३-१४ वर्ष की अथवा १६-१७ वर्ष की भी हो सकती है।

(४) मानसिक विकास में क्षति-पूर्ति का भी नियम है। प्रायः देखा गया है कि जिन मनुष्यों में कोई शारीरिक कमी होती है, वे बड़े तीव्र-बुद्धि होते हैं। उदाहरणार्थ हकले अत्यन्त बुद्धिमान्, अन्धे अच्छे संगीतज्ञ, काने बड़े काइयां और गूंगे राजनीतिज्ञ अथवा महात्मा होते हैं। यथा अन्धे सूरदास महाकवि थे, अन्धा ब्रेइल (Braille) अन्धों को पढ़ाये जाने वाले उभरे हुए अक्षरों का आविष्कारक था, बहरा बेठोफ़न विश्व-विख्यात संगीतज्ञ था, गूंगा डेमोस्थनीज प्रसिद्ध यूनानी राजनीतिज्ञ और गूंगा मूसा

प्रसिद्ध महात्मा थे। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि शारीरिक क्षति की पूर्ति मानसिक विकास द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी मानसिक क्षति की पूर्ति मानसिक विकास द्वारा भी होती है। यदि कोई इन्द्रिय किसी कारण से नष्ट अथवा दुर्बल होजाती है, तो उसकी पूर्ति अन्य किसी दूसरी इन्द्रिय के असाधारण विकास द्वारा हो जाती है। यथा महात्मा कबीरदास का निर्धनता तथा नीच जाति द्वारा उत्पादितहीनता की पूर्ति एक बड़े महात्मा होकर करना, मानसिक-क्षति-पूर्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

मानसिक-विकास का सम्बन्ध मानसिक शक्तियों से और उनका ज्ञानेन्द्रिय मस्तिष्क-वातसंस्थान आदि से है। इन शरीरावयवों की प्रधानता के अनुसार हम मानसिक शक्तियों को निम्न तथा उच्च दो कोटियों में विभाजित कर सकते हैं। निम्न कोटि के अंतर्गत चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी; दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्वाद, स्पर्श आदि सांवेदिक अथवा चेतनोत्पादक शक्ति, तथा अंग-संचालन, वाक्-शक्ति आदि; और उच्च कोटि के अन्तर्गत मस्तिष्क सम्बन्धी ध्यान, स्मरण, कल्पना, विवेचना, बुद्धि आदि शक्तियां हैं। घबराहट, भ्रांति आदि का सम्बन्ध भी वात-संस्थान से ही है। यहां हम केवल आंख, कान, वाक्-शक्ति आदि केवल कुछ ज्ञानेन्द्रियों तथा शक्तियों की ही विवेचना करेंगे।

---

(१) आंख तथा दृष्टि

दृष्टि—आंख के ताल में एक प्रकार की संयोजिका-शक्ति होती है, जिसके द्वारा ताल तथा दृष्टि-पटल के बीच की दूरी सदैव एक-सी रहने पर भी, हम ताल की मोटाई को घटा-बढ़ाकर, अर्थात् उसका उभार कम-अधिक करके एक-सा ही देखते हैं। ताल के प्राकृतिक उभार की दशा में हम लगभग २० फीट से अधिक दूर की वस्तुओं को भली भांति देख सकते हैं, परन्तु इससे निकट की वस्तु को देखने के लिए रोम-पेशियों को सिकोड़ कर ताल को आगे को उभारना पड़ता है और उन पर खिंचाव पड़ता है। संयोजिका शक्ति का विकास शनैः-शनैः होता है। संभवतः जन्म के समय इस शक्ति का निकटतः अभाव-सा होता है यही कारण है कि ६–७ मास तक बच्चे की दृष्टि नहीं ठहरती, परन्तु इसके पश्चात् वह किसी वस्तु की ओर कुछ देर तक देख सकता है। लगभग ५ वर्ष की आयु तक बच्चे की आँखें दूर की वस्तुएँ तो स्पष्टतः देख सकती हैं, परन्तु पास की वस्तुएँ उतनी अच्छी तरह नहीं देख सकतीं। ७ वर्ष की अवस्था तक दृष्टि परिपक्व होजाती है और संयोजिका-शक्ति पूर्णतः विकसित होजाती है और बच्चा दूर तथा पास सब जगह की वस्तुएं भली भाँति देख सकता है। अतः दूसरी, तीसरी आदि छोटी-कक्षाओं में बच्चों से लिखने-पढ़ने (कापी

आदि पर लिखने और छोटे छापे की पुस्तक पढ़ने) तथा सीने-पिरोने, बुनने-काढ़ने आदि का अधिक काम न लेना चाहिए, अपितु श्यामपट्ट का प्रयोग अधिक करना चाहिए, जिससे बच्चों को अधिक निकट से न देखना पड़े। मेरी समझ से तो दूसरी कक्षा तक ही नहीं, अपितु तीसरी-चौथी कक्षा तक कापी के स्थान में तख्ती का यथासंभव प्रयोग कराना चाहिए और शिक्षा आरम्भ करनेवाले बच्चों से तो कापी अथवा तख्ती के स्थान में बालुका पर अंगुलियों से और श्यामपट्ट पर चाक अथवा खड़िया से लिखवाना चाहिए, कारण कि छोटी अवस्था तक दृष्टि अथवा संयोजिका-शक्ति के अपरिपक्व होने के अतिरिक्त अंगुलियों की अस्थियाँ तथा मांस-पेशियाँ भी अत्यंत कोमल होती हैं और बच्चे लेखनी भली भांति नहीं पकड़ सकते। यही कारण है कि छोटे बच्चे कापी पर बहुत भद्दा लिखते हैं। इसके अतिरिक्त माता-पिता को भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ५ वर्ष की आयु से पूर्व बच्चों से किसी प्रकार का बारीक काम न लें।

इंगलैंड में ५ वर्ष से कम के बच्चों के लिये भी नर्सरी-स्कूल (Nursery School) हैं। उनकी देखा-देखी बहुत से अति उत्साही माता-पिता ३-४ वर्ष की अवस्था से ही बच्चों को वर्णमाला, गिनती आदि पढ़ाना-लिखाना आरम्भ कर देते हैं, किन्तु वे भूल करते हैं और यह नहीं समझते कि इंगलैंड के नर्सरी स्कूलों का सा मनोवैज्ञानिक ढंग भारतवर्ष में प्रायः कहीं भी नहीं है। यही कारण है कि भारत में शिक्षा-विभाग ने ५ वर्ष से कम के बच्चों

के लिये शिक्षा अनिवार्य नहीं की है। यहाँ ऐसा करना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक और उनकी स्वाभाविक बढ़न में अवरोधक है।

चक्षु तथा दृष्टिरोग

(अ) चक्षु-रोगः—(१) आँख दुखनाः—जब नेत्राच्छादिनी झिल्ली में रहने वाली खून की नसें, गर्मी-सर्दी, आंख की कमजोरी, आंख पर अनावश्यक भार पड़ने, धुएँ में अधिक रहने आदि किसी कारण से फूल जाती हैं, तो आँखें लाल हो जाती हैं और कभी कभी सूज भी जाती हैं। यह एक संक्रामक रोग है। प्रायः बच्चे रूमाल से आँखें पोंछा करते है, जिससे इसके कीटाणु शीघ्र अन्य बच्चों तक पहुंच जाते हैं। अध्यापक का यह कर्तव्य है कि आंख दुखते बच्चों को अन्य बच्चों से अलग रखे और जब तक आँखें पूर्णतः अच्छी न हो जायं रोगी को स्कूल न आने दे।

(२) गुहेरी अथवा बिलनी—पलकों के बाहरी सिरों पर भीतर की ओर एक प्रकार की छोटी-छोटी ग्रंथियां होती हैं, जिनसे एक प्रकार का द्रव पदार्थ निकलता है। जब किसी कारणवश किसी ग्रंथि से यह द्रव निकलना बंद हो जाता है, तो वह ग्रंथि सूज जाती है और गुहेरी बन जाती है। आँख को साफ रखने के लिए कभी-कभी त्रिफला से धो देना अच्छा है।

(आ) दृष्टि रोगः-(१) निकट-दृष्टि—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि आंख दूर की वस्तुओं को देखने के लिए बनाई गई है। २० फीट से अधिक दूर की वस्तु को देखने में रोम-पेशियों पर किसी प्रकार का खिंचाव अथवा जोर नहीं पड़ता,

परन्तु इससे जितना ही अधिक निकट की वस्तु देखनी पड़ती है रोम पेशियों को उतना ही अधिक सिकुड़ना पड़ता है, और उन पर उतना ही अधिक खिंचाव पड़ता है। निकटतः १ फुट अर्थात् २५ सेंटीमीटर या १० इंच की दूरी से कम से पढ़ने-लिखने, बुनने-काढ़ने, सीने-पिरोने, छापा अत्यधिक छोटा होने, अथवा उचित रोशनी न होने की दशा में रोम-पेशियों को बहुत अधिक सिकुड़ना पड़ता है। कुछ दिनों बाद नेत्र-गोलक की लम्बाई अथवा ताल का उभार अनावश्यक रूप से बढ़ जाता है, और रोम-पेशियाँ इतनी ढीली पड़ जाती हैं कि उनमें सिकुड़ने की शक्ति तो कुछ बढ़ जाती है, परन्तु फैलने की शक्ति कम हो जाती है, जिसका फल यह होता है कि संयोजिका-शक्ति बिगड़ जाती है और पास की वस्तु तो ४-५ इंच से कम की दूरी से भी दिखाई पड़ने लगती है, जो कि आंख की साधारण अवस्था में असंभव है, परन्तु दूर की वस्तु धुंधली दिखाई देती है कारण कि दूर की वस्तु का प्रतिबिंब ठीक प्रकार केंद्रीभूत नहीं हो पाता और दृष्टि-पटल पर पहुंचने के पूर्व ही पड़ जाता है अर्थात् उससे कुछ आगे पड़ जाता है। क्योंकि इसमें यह दोष है कि केवल निकट की ही वस्तु दिखाई देती है दूर की नहीं, अतः इसे निकट-दृष्टि-दोष कहते हैं। छोटी कक्षाओं में लिखते-पढ़ते समय आँखों को उचित स्थान पर न रखने और अध्यापकों के उस ओर ध्यान न देने के कारण प्रायः ८ वीं ९ वीं कक्षाओं के विद्यार्थियों की आँखों में समीप-दृष्टि-दोष होजाता है। इसमें नतोदर ताल का चश्मा लगाना चाहिए।

(२) दूर-दृष्टि-दोष—यह रोग प्रायः किसी-किसी बालक में जन्म से ही होता है, परन्तु चूंकि उसका पता नहीं चलता, वह धीरे-धीरे बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त देखने में आंख को उचित स्थिति अथवा स्थान में न रखने आदि भूलों से भी होजाता है अथवा और अधिक बढ़ जाता है। कुछ लोगों का वंश-परम्परा आदि कारणों से, जन्म से ही नेत्र-गोलक छोटा और रोम-पेशियाँ कुछ ढीली होती हैं और कुछ लोगों की आँखों की यह दशा किसी वस्तु को आवश्यकता से अधिक दूरी से देखने, १ फीट से अधिक दूरी पर पुस्तक रखने, तथा लेट कर पढ़ने-लिखने आदि से हो हो जाती है। आवश्यकता से अधिक दूरी से पढ़ने से रोम-पेशियों को अधिक फैलना पड़ता है जिसका फल यह होता है कि वे ढीली पड़ जाती हैं और ताल का उभार कम अथवा नेत्र-गोलक छोटा होजाता है। जिस प्रकार पतली रबर का गेटिस आदि अधिक और बार-बार खींचने से लम्बाई में कुछ बढ़ जाता है और फिर सिकुड़ कर अपनी मूल अवस्था तक नहीं पहुंच सकता, ठीक उसी प्रकार अधिक समय तक बार-बार आवश्यकता से अधिक दूर की वस्तु को देखने में, रोम-पेशियों के अत्यधिक फैलाने के कारण उनमें फैलने की शक्ति तो रहती है, परन्तु सिकुड़ने की शक्ति पूर्ववत् नहीं रहती। अतः निकट की वस्तु का प्रतिबिंब भली भाँति केंद्रीभूत नहीं हो पाता और वह केंद्रीभूत होने के पूर्व ही दृष्टि-पटल को पार कर जाता है अर्थात् वह दृष्टि-पटल के कुछ पीछे पड़ता है, जिससे वह वस्तु धुंधली दिखाई देती है। हाँ, दूर की वस्तु का

प्रतिबिंब ठीक दृष्टि-पटल पर पड़ता है, अतः वह स्पष्ट दिखाई देती है। क्योंकि इसमें यह दोष है कि केवल दूर की वस्तु ही स्पष्ट दिखाई देती है पास की नहीं, अतः इसे दूर-दृष्टि-दोष कहते हैं। यह दोष लड़कों तथा युवकों में अधिक पाया जाता है। इसमें उन्नतोदर ताल का चश्मा लगाना चाहिए।

(३) वृद्धावस्था की निकट अथवा दूर-दृष्टि (Presbyopia):- अवस्था अधिक होने पर प्रायः ४०-४५ वर्ष की आयु में आँखें कमजोर हो जाती हैं और उनकी संयोजिका-शक्ति कम हो जाती है, जिससे वे मनुष्य जो युवावस्था में निकट-दृष्टीय होते हैं इस अवस्था में धीरे-धीरे दूर-दृष्टीय होने लगते हैं और वे जो युवावस्था में दूर-दृष्टीय होते हैं इस अवस्था में निकट-दृष्टीय होने लगते हैं। अतः इस समय उनकी आँखें साधारण अवस्था में आजाती हैं, परन्तु वे लोग जिनकी आँखें युवावस्था में ठीक होती हैं उनकी संयोजिका-शक्ति सीमित होजाती है और उन्हें चश्मा लगाने की आवश्यकता पड़ने लगती है।

(४) दृष्टि-वैषम्यः—कुछ बच्चे खड़ी लकीरें देख सकते हैं, परन्तु पड़ी नहीं देख सकते, अथवा कागज या कपड़े पर का चारखाना, जामेट्री की शक्लें, समानान्तर रेखाएँ आदि भली भाँति नहीं देख सकते। ऐसे बच्चों को प्रायः समान रेखाओं में से कोई एक काली अथवा समानान्तर रेखाएँ दौड़कर एक दूसरे में मिलती हुई प्रतीत होतीं हैं और कुछ देर तक देखने से शिर अथवा आँखों में दर्द होने लगता है। इसे दृष्टि-वैषम्य-दोष कहते

हैं। यह आवश्यक नहीं कि यह दोष दोनों आँखों में हो, अथवा दोनों आँखों में एक-सा ही हो। इस दोष का कारण कनिका अथवा प्रतिबिंब को केंद्रीभूत करने वाले अन्य माध्यमों के घुमाव का सम-रूप में न होना है। इससे प्रतिबिंब के विभिन्न भागों को एक साथ केन्द्रीभूत करने में बड़ी कठिनाई ही नहीं होती अपितु ऐसा करना असंभव हो जाता है। इसका कारण लिखते-पढ़ते समय सिर को नीचा करके एक ओर झुका देना, लेटकर लिखना-पढ़ना आदि है। इस ओर अध्यापकों को विशेष ध्यान देना चाहिए। इसमें पेचीदा ताल का चश्मा लगाना चाहिए।

(५) प्रकाश का अंधापन—प्रायः देखा जाता है कि जब हम थोड़ी देर तक तीव्र बिजली के प्रकाश में कार्य करने अथवा धूप में बाहर बैठने या चलने पर छाया या कमरे में आते हैं, तो सहसा थोड़ी देर कुछ दिखाई नहीं देता अथवा धुंधला दिखाई देता है। इतना ही नहीं अपितु बिजली की तेज रोशनी में काम करने वाले लैम्प आदि के मंद प्रकाश में पढ़-लिख तक नहीं सकते। इसका कारण यह है कि तेज रोशनी से मंद रोशनी में आने पर प्रकाश-ग्रहणकारी छड़ों तथा सूचियों पर अधिक जोर पड़ता है और शीघ्र ही छड़ें थककर अचेत हो जाती हैं और सूचियों को कुछ दिखाई नहीं देता। यही दशा किसी चमकीली वस्तु को कुछ समय तक घूर कर एकाएक देखते रहने के बाद निगाह फेरने के समय भी होती है। अधिक समय तक तीव्र प्रकाश में काम करते-करते दृष्टि-पटल मुथरा हो जाता है और छड़ों तथा सूचियों की मंद प्रकाश में

देखने की शक्ति ही नष्ट हो जाती है। अतः माता-पिता को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे अत्यधिक तीव्र बिजली के प्रकाश में अथवा तेज लैम्प लगातार आँख के सामने रखकर न पढ़ें-लिखें, अन्यथा कुछ दिनों बाद वे लैम्प आदि की साधारण रोशनी में पढ़ने-लिखने योग्य भी न रहेंगे।

(६) रंग का अंधापनः—प्रायः ऐसा तो कभी नहीं होता कि कोई रंग ही न दिखाई दे, परन्तु कभी-कभी किसी-किसी बच्चे को दो-एक रंग नहीं दिखाई देते। कुछ बच्चों को लाल तथा नीले अथवा हरे, और कुछ को बैंजनी तथा पीले रंग एकसे दिखाई देते हैं। यह रोग लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को अधिक होता है। दृष्टि-पटल में प्रायः लाल, हरे तथा बैंजनी वर्ण ग्रहणकारी कोष होते हैं। अन्य वर्ण इनके संमिश्रण से बन जाते हैं। जब किसी बच्चे की आँख में किसी वर्ण-विशेष की छड़ों तथा सूचियों का अभाव होता है, तो वह उस रंग को नहीं देख सकता। रंग के अंधे को प्रायः नीले तथा लाल रंग, भूरे अथवा हल्के हरे रंग से कम या अधिक-गहरे और हल्के हरे तथा पीले रंग श्वेत दिखाई देते हैं। यदि कोई बालक रंग सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर ठीक प्रकार न दे सके, तो अध्यापक को विभिन्न रंग के कागजों द्वारा देखना चाहिए कि वह बच्चा रंग का अंधा तो नहीं है और यदि है तो किस रंग का। रंग का अंधापन वंशानुगत कारणों से होने के कारण प्रायः असाध्य होता है, अतः अध्यापक को चाहिए कि रंग के अंधे बच्चे को उचित सुविधा दे, परन्तु कभी-कभी यह रोग

तम्बाकू तथा मद्य की अति से भी हो जाता है अथवा बढ़ जाता है। अतः अध्यापक तथा माता-पिता को बच्चों से सिगरेट-बीड़ी पीने की आदत छुड़ाने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए।

(७) दृष्टि-सम्बन्धी आवश्यक बातें:—जब आँखें कमजोर हो जाती हैं, तो प्रायः थोड़ा-सा लिखने-पढ़ने, बुनने-काढ़ने अथवा सीने-पिरोने पर ही आँखें थक जाती हैं, सिर अथवा आँखों में दर्द होने अथवा रहने लगता है, पलक भारी लगने लगते हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, सूज जाती हैं, उनसे पानी निकलने लगता है, उनमें कीचड़ अधिक आती है और प्रायः धुंधला दिखाई देता है और लिखते-पढ़ते अथवा अन्य बारीक काम करते समय प्रायः माथे तथा भौंहों में सिकुड़नें पड़ जाती हैं। ऐसे बच्चे प्रायः पुस्तक आँखों के बहुत पास रखते हैं अथवा पीछे से बोर्ड पर दिखाई न देने की शिकायत किया करते हैं। पुस्तक आँखों के अत्यंत पास अथवा दूर रखना, तेज रोशनी में काम करना और उसे प्रायः आंख के सामने रखना, लेटकर पढ़ना आदि के अतिरिक्त सिगरेट पीना, कसी टाई बाँधना, निवास-स्थान में अधिक सील, घुटन, गर्मी, सर्दी, अंधेरा आदि होना, भी हैं। शिक्षकों तथा अभिभावकों को यह देखना चाहिए कि बच्चे पढ़ते समय पुस्तक को, लिखते समय कापी को, सीते-पिरोते, बुनते-काढ़ते समय वस्त्र आदि को, आँखों से एक फुट से कम अथवा अधिक दूरी पर न रखें, चलती सवारी में न पढ़ें, पुस्तकों का छापा अत्यधिक छोटा न हो—७ वर्ष से अधिक की अवस्था के बच्चों के लिए प्रायः अक्षर ७/१०० अथवा

३/५० इंच से अधिक छोटे न होने चाहिएँ, परन्तु इससे कम आयु के बच्चों के लिए १/५ अथवा ३/२० इंच से कम मोटे छापे की पुस्तक न होनी चाहिए। पढ़ते समय डेस्क पर एक ओर कमर झुकाकर न पढ़ें, लिखते समय कमर तथा कापी एक ओर को टेढ़ी करके, सिर एक ओर को अथवा अधिक नीचे को झुकाकर न लिखें। उनके पढ़ने-लिखने के कमरे में उचित गर्मी, वायु, रोशनी आदि होनी चाहिए। पढ़ते-लिखते समय रोशनी अधिक तेज अथवा मंद न होनी चाहिए। वे चारपाई पर लेटकर न पढ़ें। किसी वस्तु की ओर अधिक समय तक एकटक न देखते रहें, बीच-बीच में पलक मारते रहें। इससे खारी द्रव-पदार्थ निकलता रहता है और नेत्राच्छादिनी झिल्ली तर तथा साफ रहती है, जिससे आँखें थकने नहीं पातीं। इसके अतिरिक्त अध्यापकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं बच्चे किसी कठिन शब्द आदि को ध्यानपूर्वक देखने के बहाने आँख के पास लाकर समझने का प्रयत्न तो नहीं करते। इस आदत के पड़ने से पुस्तक आँख के पास रखकर पढ़ने की आदत पड़ जाने का डर है। यदि इतना ध्यान रखने पर भी आँखें कमजोर हो जायँ, तो उचित शक्ति के चश्मे का शीघ्र प्रबन्ध कर देना चाहिए, अन्यथा रोग और अधिक बढ़ जाने की संभावना है। चश्मे से संयोजन ठीक प्रकार हो जाता है, प्रतिबिंब ठीक दृष्टि-पटल पर केन्द्रीभूत होने लगता है।

६

श्रवण-शक्ति

कान के तीन भाग हैं—बाह्य, मध्य तथा आंतरिक।

बाह्य कर्ण—यह बाहर की ओर निकला रहता है और छोटा-बड़ा, खड़ा-पड़ा कई प्रकार का होता है। यह स्तन-धारी प्राणियों के तो होता है, परन्तु साँप, छछून्दर, सूंस, चिड़िया इत्यादि के नहीं होता। यह एक प्रकार का ध्वनिग्राहक यन्त्र है और ध्वनि-लहरों को एकत्रित करके कर्ण-द्वारा भीतर भेजता है। इस नली के भीतरी मुख पर एक पतली झिल्ली होती है जिसे कान का पर्दा कहते हैं।

मध्य कर्ण—यह कान के पर्दे के पीछे कनपटी के नीचे एक छोटी-सी हवा की कोठरी है।

आंतरिक कर्ण—मध्य कर्ण के पीछे एक छोटी-सी थैली होती है। इसके पिछले भाग में वृत्त के आकार की तीन नलियाँ होती हैं जिनमें एक प्रकार का श्वेत रंग का रस भरा रहता है। पीछे की ओर बारीक बालों के गुच्छे होते हैं जिनके द्वारा हम ध्वनि सुन तथा पहचान सकते हैं।

सुनना—ध्वनि लहर से कान का पर्दा, मध्यकर्ण की तीनों नलियाँ, तरल पदार्थ, आभ्यंतरिक बालों के गुच्छे आदि सब कम्पित हो जाते हैं और चेतनः श्रवण-स्नायु द्वारा मस्तिष्क में स्थित

श्रवणकेन्द्र तक पहुंच जाती है और उस ध्वनि का ज्ञान होता है। कान के पर्दे में कम से कम १६ और अधिक से अधिक ५०,००० कम्पन हो सकते हैं। इससे कम अथवा अधिक लहरें उत्पन्न करने वाली लहर का प्रभाव कान के पर्दे पर उचित प्रकार नहीं होता। अतः बालकों से न तो इतनी धीरे से ही बोलना चाहिए कि सुनाई भी न दे और न इतनी जोर से ही बोलना चाहिए कि कान के पर्दे पर चोट पहुंचे। बन्दूक की गोली अथवा आतिशबाजी या तोप का गोला छूटने से कान के पर्दे पर इतनी जोर का धमाका पहुंचता है कि कान गुंगिया जाते हैं। इसी कारण ऐसे अवसर पर प्रायः लोग कानों में अंगुली दे लेते हैं। अधिक तेज आवाज से कान का पर्दा फट जाने का डर रहता है। अतः छोटे बच्चों को 'कानाबाती कुर्र' नामक खेल न खेलने देना चाहिए। इसमें कभी-कभी बच्चे एक दूसरे के कान में 'कानाबाती कुर्र' करने के बहाने इतनी जोर से किल्ली मारते हैं कि कान का पर्दा फट जाता है।

सुनने की शक्ति सब जीवों में समान नहीं होती। बाह्य कर्ण जितना ही बड़ा तथा हिलने-डुलने वाला होता है, यह शक्ति उतनी ही अधिक होती है। उदाहरणार्थ कुत्ता, बिल्ली, हरिण, खरगोश, गाय, बैल आदि पशु ध्वनि की ओर मनुष्यों की अपेक्षा आसानी से कान खड़े कर सकते हैं, अतः सुनने की शक्ति उक्त प्रकार के पशुओं में मनुष्यों की अपेक्षा अधिक होती है। यही कारण है कि वे तनिक-सी आहट पाते ही चौकन्ने हो जाते हैं।

सुनने की शक्ति लगभग ७ वर्ष तक पूर्णतः विकसित हो जाती

है। आवाज़ पर अधिकार न होने और गाने तथा बोलने में अशुद्धि हो जाने का कारण वाक्-शक्ति की अपूर्णता तथा श्रवण-शिक्षा का अभाव है, श्रवण-शक्ति की अपूर्णता नहीं। प्राइमरी स्टेज अर्थात् छोटी कक्षाओं में बच्चों को गद्य की अपेक्षा पद्य और पद्य की अपेक्षा राग (संगीत) अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। अतः शिक्षकों को चाहिए कि वे इस समय बच्चों को सुन्दर-सुन्दर पद अथवा कविताएँ सिखाएँ। तीसरी-चौथी कक्षाओं में मौखिक कविता-पाठ (Recitation) द्वारा और पांचवीं-छठी कक्षाओं में कविताएँ कंठ कराकर, अंताक्षरी जैसे खेल खिलाकर बच्चों में राग के प्रति रुचि उत्पन्न कराई जा सकती है। ११-१२ वर्ष की अवस्था में बालकों में किसी आवाज पर ध्यान देने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में उन्नत हो जाती है और वे शुष्क संगीत को समझने लगते हैं। इस समय उनमें सुर, लय, राग, ध्वनि, उच्चारण आदि के सूक्ष्म भेदों को समझने की शक्ति भी आने लगती है। अतः यदि इस समय बालकों को भाषण-ध्वनियों की शिक्षा दी जाय, तो उनका उच्चारण (Pronunciation) बहुत कुछ सुधर सकता है।

श्रवण-रोग—कभी-कभी कान में सर्दी आदि लग जाने से पीत-द्रव्य अधिक मात्रा में बनने लगता है, जिससे बाह्य-कर्ण नली बन्द हो जाती है और ध्वनि-लहर कर्ण-पटल तक नहीं पहुंच पाती, जिससे हम ऊंचा सुनने लगते हैं। ऐसा कभी-कभी स्नान आदि के समय कान में पानी चले जाने से भी हो जाता है। कभी-कभी कान में फुंसी, तेज जुकाम आदि के कारण भी कंठ-कर्ण नली के

बन्द हो जाने से मध्य कान की कोठरी तक कंठ से हवा नहीं जाने पाती और ध्वनि-लहर मध्य-कर्ण की दीवार तथा उसके आगे नहीं पहुंच पाती। इसके अतिरिक्त प्रायः बच्चे पेंसिल की नोक, दियासलाई अथवा सींक आदि से कान कुरेदा करते हैं, जिससे सींक आदि का टुकड़ा टूटकर भीतर रह जाने के अतिरिक्त कर्ण-पटल के फट जाने का डर भी रहता है। अतः कान बहने, जुकाम हो जाने, कान में बाह्य-पदार्थ चले जाने इत्यादि का माता-पिता तथा शिक्षकों को विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि बच्चा गाने से जी चुरावे, संगीत से भागे और उसे समस्त वातावरण शुष्क तथा नीरस लगे, परन्तु अपना नाम शीघ्रता से सुन ले, तो समझना चाहिए कि उसके कान में अवश्य कुछ दोष है। इसके अतिरिक्त प्रायः अध्यापक बच्चों के कान उमेठा करते हैं तथा माता-पिता लड़कियों को गहने पहनाने के निमित्त उनके कान छिदवाया करते हैं, जिससे कभी-कभी बालकों के कान घायल होकर पक जाते हैं। कान सुनने के लिए हैं, खींचने, उमेठने अथवा छेदने के लिए नहीं।

७

वाक्-शक्ति

वाक्-शक्ति का सम्बन्ध भाषा तथा भाषण से है, अतः यहां हम बच्चों की भाषा तथा भाषण-विकास की विस्तृत व्याख्या करेंगे।

भाषा तथा भाषण—जब हमारा किसी वस्तु विशेष से सम्पर्क होता है तो एक लहर-सी उत्पन्न होती है जो बाह्य इन्द्रियों से टकराती है जिससे उनमें एक प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न होती है, जो अंतर्मुखी स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क में पहुंचती है, जहाँ विचार उत्पन्न होता है, जो बहिर्मुखी स्नायुओं द्वारा शब्दोत्पादक तथा स्वरोत्पादक स्नायु-केन्द्रों में होता हुआ वाग्यंत्र में आता है और मुख द्वारा व्यक्त ध्वनियों के रूप में निर्गत होता है। यह सार्थक व्यक्त ध्वनि-संकेत ही भाषा और मनुष्यों द्वारा इनका सप्रयोजन व्यवहार करना अर्थात् बोलना मात्र ही भाषण है। अतः नवजात शिशु की सहज तथा स्वाभाविक ध्वनियों को भाषण नहीं कह सकते क्योंकि वह सप्रयोजन नहीं होती। इस प्रकार भाषण से ही भाषा की उन्नति होती है। यदि भाषा कार्य है तो भाषण क्रिया, यदि भाषा नित्य है तो भाषण क्षणिक, यदि भाषा स्थायी है तो भाषण परिवर्तनशील, यदि भाषा विद्या है तो भाषण कला, यदि भाषा का चरम अवयव शब्द है तो भाषण का वाक्य। एक उदाहरण से

यह विषय स्पष्ट हो जायगा। कल्पना करो कि एक मनुष्य कहता है, 'बचो ! सर्प है'। इन शब्दों से वायु में एक प्रकार का कम्पन हुआ जिससे एक लहर उत्पन्न हुई जो कर्णेन्द्रिय पर टकराई जिससे वहां एक संवेदन उत्पन्न हुआ, जो अंतर्मुखी स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क में गया, जहाँ यह विचार आया कि पूछा जाय कि 'कहां है ?'। यह बहिर्मुखी स्नायुओं द्वारा शब्दोत्पादक स्नायु-केन्द्र में होता हुआ वाग्यंत्र में आया और मुख द्वारा व्यक्त ध्वनि-संकेतों के रूप में प्रकट हुआ। यह शब्द अथवा वाक्य 'कहाँ है' ही भाषा और इनका व्यवहार ही भाषण है। यदि दूसरा मनुष्य बहरा, गूंगा अथवा एकान्तवासी जंगली होता, तो भाषा तथा भाषण का प्रयोग न कर पाता।

भाषा प्राकृतिक है अथवा अर्जित ?—भाषा का पद केवल मनुष्यों की भाषा को ही प्राप्त है, पशु-पक्षियों की भाषा को नहीं। यह मनुष्यों को ईश्वर की देन विशेष है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा प्राकृतिक है और इस पर मनुष्य जाति का जन्म-सिद्ध अधिकार है। यदि ऐसा होता तो मनुष्य-समाज से पृथक रहने वाला जगली मनुष्य भी प्राकृतिक भाषा सीख जाता, सारे संसार के मनुष्य एक ही भाषा बोलते, तथा बच्चा भिन्न वातावरण अथवा समाज में रहने पर भी दूसरी भाषा न सीख पाता। परन्तु ऐसा नहीं है। 'रॉबिन्सन क्रूसो का 'फ्राइडे' प्रारम्भ में कोई भाषा नहीं बोलता था; संसार में चीनी, जर्मन इत्यादि अनेक भाषायें बोली जाती हैं तथा एक भारतीय शिशु अंग्रेज धाया द्वारा परिपोषित

होने पर अंग्रेजी सीखता है, हिन्दी नहीं। हम किसी भी देश अथवा जाति की भाषा पूर्वजों के अनुकरणमात्र से ही सीख सकते हैं। अतः भाषा प्राकृतिक नहीं अपितु अर्जित सम्पत्ति है, परन्तु मनुष्य उसका अर्जन कर सकता है, उत्पादन नहीं। भाषण के अतिरिक्त भाषा का कोई भी अंग प्राकृतिक नहीं है। भाषण का बीज प्रत्येक नवजात शिशु की सहज और स्वाभाविक ध्वनियों में पाया जाता है।

भाषा तथा भाषण की आदि उत्पत्ति—क्योंकि भाषण प्राकृतिक तथा भाषा से अधिक प्राचीन है अतः भाषा की उत्पत्ति की ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व भाषण की उत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। भाषण का प्रारम्भिक स्वरूप अर्थात् सहज और स्वाभाविक ध्वनियाँ प्रकट करना तो प्रत्येक मनुष्य में जन्म से ही रहता है। रोना-किलियाना, प्रलापना, गूं-गूं करना तथा किलकारना आदि तो प्रत्येक अबोध शिशु भी कर लेता है। इस प्रकार भाषण-क्रिया का आदि स्वरूप, भाषा का बीज तो मनुष्यों में सहज तथा स्वाभाविक ध्वनियों के रूप में आदिम काल से ही वर्तमान था। अब प्रश्न यह है कि उसका विकास किस प्रकार हुआ और उसे भाषण का रूप तथा पद कब और कैसे प्राप्त हुआ ?

यद्यपि हम्बोल्ट के मत से भाषा तथा भाषण की उत्पत्ति का निश्चत रूप से पता लगाना असम्भव है तथापि बच्चों की भाषा तथा भाषण की उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन करने से भाषण तथा भाषा के विकास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। जीव-विज्ञान के

ज्ञाताओं का मत है कि मानव जाति का विकास एक व्यक्ति के विकास की भाँति ही हुआ है। जिस प्रकार अबोध शिशु स्वान्तः सुखाय कुछ सहज और स्वाभाविक ध्वनियां निकालता है और भूख-प्यास, दुख-दर्द आदि के लिए रोता तथा किलियाता है उसी प्रकार प्रारम्भ में आदि मानव जाति भी कुछ सहज और स्वाभाविक ध्वनियाँ निर्गत करती रही होगी।

जब शिशु तीन-चार मास का हो जाता है तो मस्त होकर कूं-कूं, गूं-गूं, आदि ध्वनियाँ निकालने तथा किलकारियाँ भरने लगता है, उसी प्रकार आदिम मनुष्य भी स्वांतः सुखाय गुनगुनाया करते होंगे। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह साथी बनाना और उनसे परस्पर विचार-विनिमय करना चाहता है, अतः केवल स्वान्तः सुखाय सहज और स्वाभाविक ध्वनियों से ही काम नहीं चल सकता।

जब बच्चा पाँच-छः मास का हो जाता है तो खिलौने आदि वस्तुओं को देखकर उनकी ओर लपकने लगता है और हाथ-पैर से संकेत करने लगता है। इसी प्रकार आदिम मानव जाति भी संकेत तथा इंगितों द्वारा काम चलाती रही होगी।

जब बच्चा आठ-नौ मास का होता है तो वह बा-बा, मा-मा, इत्यादि ध्वनियाँ अकारण ही निकालने लगता है, परन्तु माता-पिता उनको अपने लिये प्रयुक्त समझकर उत्तर दे देते हैं और बच्चे से बोलने लगते हैं। धीरे-धीरे बच्चा उन ध्वनियों को माता-पिता के लिये प्रयोग करने लगता है। इस प्रकार ध्वनियों का अर्थ से सम्बन्ध हो जाता है और ये ध्वनियाँ सार्थक होकर संकेत बन जाती

हैं। उसी प्रकार पा-पा का पिता अथवा पानी से, हप्पा का खानी-पीनी वस्तु से, चाचा का चचा से, बुआ का किसी स्त्री से सम्बन्ध हो जाता है। भाषा तथा भाषण का यहीं से आरम्भ होता है। चाचा, बुआ, बाबा, मामा, पापा आदि ध्वनि-संकेत ही भाषा और उनका व्यवहार करना भाषण है। इस प्रकार बच्चे की भाषा और भाषण, प्रारम्भ समाज तथा आकस्मिक संसर्ग द्वारा होता है। मानव-समाज ने भी अधिक संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों तथा वस्तुओं को सहज ध्वनियों से अकस्मात् सम्बन्धित कर लिया होगा।

जब बच्चा डेढ़-दो वर्ष का हो जाता है तो वह म्याऊं, कू-कू, भौं-भौं, चूं-चूं, खों-खों, काक, घुग्घू आदि अनुकरण-मूलक और अहा, हाहा, ओहो, आदि विस्मयादिबोधक शब्द तो सहज ही बना लेता है और कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, बन्दर, भाई, बीबी आदि शब्दों का ज्ञान समाज द्वारा प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार बच्चों को पुराने तथा उपस्थित संसर्गों अर्थात् विकसित भाषा का अर्जन करना पड़ता है और उसको सिखाने वाले मनुष्य भी पहले से ही विद्यमान रहते हैं; परन्तु आदिम मानव-जाति को यह सुविधा न थी, उसके सामने न तो संसर्ग ही उपस्थित थे और न उनके सिखाने वाले मनुष्य हो। अतः प्रश्न यह है कि उन्होंने सार्थक शब्दों की उत्पत्ति कैसे की और उनका वर्तमान अर्थों से सम्बन्ध कैसे हुआ? सम्भव है कुछ अनुकरण-मूलक तथा विस्मयादिबोधक शब्द अनायास ही बन गए हों, परन्तु शेष शब्द-कोष का उद्भव किस प्रकार हुआ? इसका निश्चित रूप से निर्णय करना तो असंभव

है, परन्तु अनेक विद्वानों ने भिन्न भिन्न मतों तथा सिद्धान्तों द्वारा निकटतया निर्णय करने का प्रयत्न किया है। "वास्तव में बात यह है कि किसी भी एक मत द्वारा समस्त भाषा-भंडार की व्याख्या नहीं हो सकती। अनुकरणमूलकतावाद को लें अथवा मनोभावाभिव्यंजकतावाद को, शब्दों की व्याख्या औपचारिक उत्पत्ति द्वारा करें अथवा प्रतीकात्मक उत्पत्ति द्वारा, कोई भी एक मत व्यष्टि रूप से पर्याप्त नहीं है। कारण कि ये सब भिन्न-भिन्न आधारों पर निर्धारित हैं। 'यदि हम अंशतः सत्य मतों के आधारों के एकीकरण द्वारा एक मूल आधार ज्ञात करके समन्वय करें तो एक निरापद मत निकल सकता है। अनुकरणमूलकतावाद में मनुष्येतर प्राणियों तथा निर्जीव पदार्थों की प्राकृतिक ध्वनियों का, मनोभावाभिव्यंजकतावाद में मनोभावों तथा अनैच्छिक क्रियाओं में होने वाली स्वाभाविक ध्वनियों का और उपचारवाद में ज्ञात शब्दों का, अनुकरण होता है। अतः इन सब मतों का मूल आधार 'अनुकरण' ही है, परन्तु केवल अनुकरण द्वारा उत्पादित भाषा पशु-पक्षियों की भाँति कुछ निरर्थक ध्वनियों का समूहमात्र होगी, जिनका ईश्वर-प्रदत्त बुद्धि द्वारा सांकेतिक तथा सम्बन्धित होना नितांत आवश्यक है। यह संसर्ग अथवा सम्बन्ध सादृश्य नियमानुसार होता है। अतः भाषा वह सामाजिक तथा सांकेतिक संस्था है जो संसर्ग ज्ञान का फल है और जिसकी उत्पत्ति जड़ तथा चेतन प्रकृति की प्राकृतिक बोलियों तथा उनकी क्रियाओं में होने वाली स्वाभाविक ध्वनियों और उनके द्वारा बने हुए ध्वनि-संकेतों के, सादृश्य नियम

के अनुसार, बुद्धि-पूर्वक अनुकरणमात्र से हुई है। ‡"

भाषा तथा भाषण का विकास—जब बच्चा लगभग दो वर्ष का हो जाता है, तो वह कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, माँ, बाप आदि को देखकर कुत्ता, विल्ली, बन्दर, अम्मा, बाबू आदि कहने लगता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह पहले शब्द सीखता है। वह सोचता तो वाक्य में ही है, परन्तु अभिव्यंजना-शक्ति निर्बल होने के कारण अपने विचारों को वाक्यों में प्रकट नहीं कर पाता। उसका अभिप्राय यही होता है कि देखो बिल्ली आई, अम्मा आओ, बाबू आए इत्यादि; इसी प्रकार 'मामी' से पानी लाओ, 'दूद' से दूध लाओ, 'दोदी' से गोदी ले लो, 'बज्जी' से बाजार चलो, 'घर' से घर चलो इत्यादि होता है। इस प्रकार बच्चा भाषा में प्रयोग चाहे शब्दों का करे, परन्तु उनका व्यवहार, उनका भाषण वाक्यों के लिये ही करता है। अतः भाषा का चरम अवयव (Unit) चाहे शब्द भले ही हो, परन्तु भाषण का चरम अवयव वाक्य ही है। संभवतया आदिम मानव जाति भी प्रारम्भ में शब्दों का ही प्रयोग करती रही होगी।

जब बच्चा दो-तीन वर्ष का हो जाता है, तो वह दो-दो, तीन-तीन शब्दों का एक साथ प्रयोग करने लगता है, जैसे अम्मा, कमीज, बाजार=अम्मा कमीज पहना दो बाजार जाऊंगा; बाबू, पैसा चीज= बाबू, पैसा दे दो चीज लूगाँ; बाबू, साम, तत्ती=बाबू श्याम तख्ती छूता है। इसके अतिरिक्त वह अधूरे वाक्य भी बोलने लगता है

‡ राममूर्ति मेहरोत्रा, 'भाषा विज्ञानसार' पृ० ४६-४७

जैसे बाबू, पाल मारा=बाबू, गोपाल ने मुझे मारा है; पूरी खा=मैं पूरी खाऊंगा; दूध गिरी, बिल्ली गई, कुत्ता गई, चाचा गई, बिल्ली बच्चा गई, बाबू आगए, कन आगए, कन (किशन) कापू (चाहे कापी हो या किताब) लाई, घोड़ा (घोड़ा हो चाहे गधा) आ इत्यादि; परन्तु उसे काल, लिंग, वचन, कारक, कारक-चिह्न, क्रिया-भेद, वस्तु-भेद आदि का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार आदि-कालीन मनुष्य भी वाक्य अवश्य पृथक्-पृथक् करने लगे होंगे। पहले मूर्त पदार्थ तथा सम्बन्धित व्यक्तियों के नाम बने होंगे फिर धीरे-धीरे जाति वाचक, भाव वाचक शब्द भी बन गए होगें।

इसी अवस्था में बच्चे में एक और भी प्रवृत्ति पाई जाती है। वह कभी कभी शब्दों को, शायद उनकी क्लिष्टता दूर करने के लिये, लयकाकर कहता है जैसे गदहा (गधा) डंडआ (डंडा) बनरुआ (बन्दर) देदय (देदे) अये (है) इत्यादि। इतना ही नहीं कभी-कभी तो वह मस्त होकर 'झण्डा ऊँचा, झण्डा ऊँचा, जै विन्दे पाल, माधो दयाल' (जै गोविन्दे जै गोपाल, वेणी माधो दीन दयाल) इत्यादि लय से गाया करता है। उसकी भाषा में स्वर और लय की अधिकता होती है और उसका भाषण बड़ा प्यारा लगता है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है और पूरे वाक्य बोलने लगता है त्यों-त्यों उसकी भाषा में स्वर और लय की कमी होती जाती है। यहां तक कि जब वह तीन-चार वर्ष का हो जाता है तो वह लेश-मात्र भी लयकाकर नहीं बोलता और उसकी भाषा में व्यंजनों की अधिकता और स्वरों की न्यूनता हो जाती है। वाकशक्ति

८

संवेदनात्मक विकास

किशोरावस्था तथा संवेदनात्मक विशेषताएँ

किशोरावस्था में बुद्धि तथा रुचि में उतने परिवर्तन नहीं होते, जितने चरित्र तथा स्वभाव में होते हैं। शारीरिक ग्रन्थियों तथा मनोवेगों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार दुःख में आंसू अथवा क्रोध में स्वेद निकल आना आदि शारीरिक परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार मानसिक परिवर्तन भी होते हैं। युवावस्था-सम्बन्धी ग्रन्थियों से निष्क्रमित रस का प्रारम्भिक मनोवेगों तथा भावनाओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। ग्रन्थि-संस्थान के परिपक्व होने पर मनोरागों, स्वभावगत संस्कारों तथा मूल प्रवृत्तियों में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। अतएव इस अवस्था में शिक्षकों के सम्मुख अनेक चरित्र तथा व्यवहार-सम्बन्धी कठिनाइयाँ आती हैं।

बाल-विकास के विषय में किसी मनोवैज्ञानिक का मत है:—

"Nature has been busy, up to the age of ten or twelve, in building a body for the child. She then proceeds, during the next three or four years, to install his emotional nature and after that to give him an intellect."

अर्थात लगभग १०-१२ वर्ष तक प्रकृति बालक की शारीरिक वृद्धि, तत्पश्चात् ३-४ वर्ष तक भावात्मक वृद्धि और अन्त में बुद्धि-आत्मक वृद्धि करती है।। चूंकि 'child is born not made' अर्थात् बालक पैदा होता है, बनाया नहीं जाता, उसका निर्माण तथा विकास मशीन की भाँति एक के पश्चात् दूसरा पुर्ज़ा लगाने से नहीं होता, अपितु 'the child is father of the man' अर्थात् बच्चा मनुष्य का सूक्ष्म प्रतिरूप है, उसमें प्रौढ़ों में पाई जानेवाली सभी शक्तियाँ, प्रवृत्तियां तथा संस्कार बीज-रूप में पाये जाते हैं; वे शनैः-शनैः विकसित तथा उन्नत होते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि सब आयु के साथ-साथ एक ही गति से उन्नत नहीं होते। अतएव वे सब एक ही साथ, एक ही समय पर परिपक्व भी नहीं होते, अपितु अपने-अपने विभिन्न समयों पर होते हैं। इस प्रकार यद्यपि उक्त सिद्धान्त असत्य है, तथापि इससे इतना प्रकाश अवश्य पड़ता है कि १०-१२ वर्ष के पश्चात् ३-४ वर्ष तक अर्थात् किशोरावस्था संवेदनात्मक परिपक्वता का समय विशेष है; विभिन्न संस्कार, मूल प्रवृत्तियाँ तथा अभिरुचियाँ इसी समय परिपक्व होती हैं। इसका जीवन के उत्थान में वही महत्त्व है, जो दिवस में प्रभात अथवा अरुणोदय का है। चूंकि इस अवस्था के पश्चात् प्रायः बालक जीवन में प्रवेश करते हैं, अतः व्यक्तित्व-निर्माण अथवा चरित्र-गठन की यह अन्तिम श्रेणी है। अतएव शिक्षक तथा अभिभावक दोनों के लिये ही इसका बहुत कुछ महत्त्व है। इस प्रकार ११ वर्ष से कम के बालकों के शिक्षण में

शिक्षकों को 'करीक्युलम' तथा शिक्षण-प्रणाली बच्चों की अपरिपक्व बुद्धि तथा साधारण अभिरुचियों के आधार पर नियंत्रित करनी पड़ती है। ११ वर्ष के पश्चात् पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ परिपक्व तो हो जाती हैं, परन्तु चूंकि सब एक ही मात्रा में एक-सी उन्नत नहीं होतीं, अतः स्वभावगत संस्कारों, मूल प्रवृत्तियों तथा संवेगों से सम्बन्ध रखनेवाली भावात्मक विशेषताओं का भी ध्यान रखना पड़ता है।

भावात्मक वृद्धि की दो प्रमुख अवस्थाएँ हैं—मध्य बाल्यावस्था लगभग १० वर्ष के निकट और युवावस्था। प्रथम अवस्था में मनोवेग तीव्र तो होते हैं, परन्तु उतने स्थायी तथा दृढ़ नहीं होते। इस समय की प्रमुख प्रवृत्तियाँ भय, क्रोध आदि हैं। द्वितीय अवस्था के मनोवेग दृढ़, गम्भीर, स्थायी तथा जटिल होते हैं। इस समय के प्रमुख मनोवेग आदर, कृतज्ञता, घृणा, सहानुभूति, लज्जा, कामुकता, अहम्मन्यता इत्यादि हैं। प्रायः सभी मूल प्रवृत्तियों का उचित तथा परिमित प्रयोग अच्छा और अत्यधिक बुरा है। उदाहरणार्थ, यदि क्रोध-प्रदर्शन केवल अनिच्छा प्रकट करने के लिए किया जाय तो कोई हानि नहीं, परन्तु क्रोध में आपे से बाहर हो जाना और गाली-गलौज तथा मारपीट तक की नौबत आजाना ठीक नहीं; यद्यपि कभी-कभी थोड़ा भय अथवा हिचकिचाहट मनुष्य को भयानक परिस्थिति में पड़ने से बचा देती है, तथापि इसकी अति उसको कोई भी काम नहीं करने देती। इस प्रकार किसी भी प्रवृत्त्यात्मक अथवा मूल प्रेरणा को अबद्ध रूप से चरितार्थ

होने में पूर्ण स्वतन्त्रता देना न तो सम्भव ही है और न हितकर ही। मध्य मार्ग अर्थात् प्रवृत्तियों के विकासार्थ स्वतन्त्र क्षेत्र न देते हुए भी उनको नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाने के लिये उसका उचित प्रयोग करते रहना, सर्वश्रेष्ठ है। अतः जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता प्रवृत्त्यात्मक नियमन अर्थात दृढ़ संकल्प और आत्म-संयम की है। चूंकि संवेग, मानसिक क्रियाओं के संचालक होते हुए भी, उच्च मानसिक शक्तियों द्वारा शासित होते हैं, अतः आत्मसंयम की शक्ति बच्चों की अपेक्षा प्रौढ़ों में अधिक होती है। युवावस्था तक प्रायः बालक क्रोध आदि सभी साधारण प्रवृत्तियों पर शासन कर सकता है, परन्तु काम-वृत्ति का शासन उसकी शक्ति के बाहर है। यहां तक कि जिन लड़कों में कामुकता अधिक प्रबल होती है, वे प्रायः युवावस्था में सुस्त तथा गम्भीर हो जाते हैं। अध्यापकों तथा अभिभावकों को ऐसे बालकों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

इस समय किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के प्रति उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा एवं रुचि दृढ़ भाव(Sentiment) का रूप धारण कर लेती है। भावों का बनाना बुरा नहीं, परन्तु शिक्षकों को इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उचित तथा सुन्दर भाव उत्पन्न हों। युवावस्था की सर्वप्रमुख तथा बलिष्ठ प्रवृत्ति कामुकता है, अतः इसकी अपेक्षाकृत विस्तृत चर्चा करेंगे।

काम-वृत्ति तथा काम-शिक्षा

यौवनोद्गम काल में मूल संस्कार अथवा प्रवृत्ति-संस्थान की

परिपक्वता का सर्वप्रमुख तथा प्रथम प्रभाव स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के मूल में रहनेवाली गूढ़ प्रवृत्ति (Sex-instinct—काम-वृत्ति) की प्रबलता है। फ्राइड ने सैक्स को बहुत महत्त्व दिया है। इस समय जननेन्द्रिय का आकार एकाएक बहुत कुछ बढ़ जाता है, जिससे बालक का ध्यान अवश्य ही उधर खिंच जाता है और उसके मन में एक गुप्त कामना उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप उसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से एक प्रकार की दबी हुई-सी घृणा अथवा आशंका उत्पन्न होती है। कभी यह भावना अत्यन्त गुप्त होती है और कभी अत्यन्त प्रकट। इस समय काम-सम्बन्धी शिक्षा (Sex education) देनी चाहिए, परन्तु बड़े खेद का विषय है कि सभ्य समाज इस कार्य को घृणा की दृष्टि से देखता है और काम-शिक्षा देना तो दूर रहा, काम-वृत्ति को मन के अतल गह्वर में दबाना ही अपना कर्तव्य समझता है और शिक्षा का उद्देश्य सांस्कृतिक सफलता-प्राप्ति के हेतु सदैव से इसका दमन करना ही रहा है। मन के प्राकृतिक उद्वेग को रोकने का वही फल होता है, जो हिमाच्छादित पर्वतकन्दरा से प्रस्फुटित प्राकृतिक स्रोत को रोकने का होता है। जिस प्रकार प्राकृतिक स्रोत अथवा जलप्रवाह को बाँधना असम्भव है, वह किसी न किसी मार्ग से फूट ही निकलता है, उसी प्रकार मन के सहज उद्वेगों का दमन भी असम्भव है, वे परोक्ष अथवा किसी न किसी अप्राकृतिक रूप से फूट ही निकलते हैं। किशोरावस्था में बालक अपने बड़ों से 'बच्चा कैसे पैदा होता है; वह माँ के पेट में कहाँ से आजाता है, माता-पिता के बीच में

क्या सम्बन्ध है, जननेन्द्रिय का क्या उपयोग है' इत्यादि अनेक प्रश्न किया करता है। प्रायः माता-पिता, शिक्षक आदि बालकों की काम-विषयक शंकाओं का समाधान झूठे-सच्चे उत्तर देकर कर देते हैं अथवा उन्हें डाँट-डपटकर टाल देते हैं। फल यह होता है कि वे उक्त ज्ञान अनुचित रूप से प्राप्त करते हैं और अतृप्त इच्छाओं को उपन्यास-कहानियां आदि पढ़कर, सिनेमा आदि देखकर, घर के नौकरों-चाकरों तथा अपने सहपाठियों से गन्दी बातें करके तृप्त करते हैं। चूंकि यह ज्ञान किसी विशेषज्ञ द्वारा प्राप्त नहीं होता, अतः भ्रामक होता है और अनेक दुर्व्यसनों तथा कुटेवों का कारण बन जाता है, जिनके फलस्वरूप बालकों में विभिन्न रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यदि किसी प्रकार उक्त प्रवृत्ति दब जाती है और उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है, तो प्रायः बालक चिड़चिड़ा, उदासीन अथवा विरक्त-सा हो जाता है। जिस प्रकार भूख न होने पर स्वादिष्ट भोजन भी अरुचिकर प्रतीत होता है और थोड़ा-सा भी खा लेने पर अत्याहार होकर अजीर्ण हो जाता है अथवा तीव्र भूख लगने पर भी न खाने से भूख मर जाती है और शरीर दुर्बल होकर रुग्ण होने लगता है, परन्तु यदि इस समय रूखा-सूखा भोजन भी मिल जाय; तो क्षुधा शान्त हो जाती है और भोजन अंग को लगता है, ठीक यही दशा ज्ञान-सम्बन्धी जिज्ञासा की भी है। ज्ञान मस्तिष्क का भोजन है। उसकी जिज्ञासा एक प्रकार की पिपासा अथवा क्षुधा है। किसी विषय विशेष की ज्ञान-क्षुधा लगने के पूर्व ज्ञान-प्रदान करने से वह केवल निष्फल ही नहीं जाता,

अपितु दुष्परिणामरूपी अजीर्ण भी उत्पन्न करता है और ज्ञान-क्षुधा लगने पर भी मस्तिष्क को उचित ज्ञान न मिलने से ज्ञान-क्षुधा ही नहीं मर जाती, अपितु मानसिक रोग भी उत्पन्न हो जाते है। चूंकि किशोरावस्था में ज्ञान-पिपासा तीव्र होती है और बालकों में काम-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा प्रबल होती है, अतः इस समय काम-शिक्षा देना परमावश्यक है। अतएव माता-पिता तथा शिक्षक का कर्तव्य है कि वे काम-वृत्ति को घृणित न समझें और बालकों के काम-विषयक प्रश्नों का उचित उत्तर दें और काम-शिक्षा देने में संकोच न करें। डाक्टर स्ट्रॉंग का कहना है कि "Information on sexual subjects should be given in exactly the same tone of voice, in the same manner, with the same directness, as information on other subjects." अर्थात् बालकों को काम-सम्बन्धी बातें ठीक उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से निःसंकोच सिखानी चाहिएँ, जिस प्रकार अन्य विषय सिखाये जाते हैं। चूंकि भारतवर्ष में सैक्स-सम्बन्धी सामाजिक शासन पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक कड़ा है; इस विषय में न तो उतनी स्वच्छन्दता ही है और न उतने उच्च विचार ही, अतः उतने प्रत्यक्ष और स्पष्ट ढंग से तो इस विषय की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, हां, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय काम-शिक्षा दी अवश्य जानी चाहिए और दी भी जानी चाहिए माता-पिता तथा शिक्षक द्वारा ही। अब प्रश्न है कि उक्त शिक्षा किस प्रकार दी जाय। मेरी

समझ से तो काम-शिक्षा के प्रति घृणित भाव न रखना चाहिए और उसे प्रत्यक्षतः स्पष्ट रूप से प्रदान करने की अपेक्षा परोक्ष रूप से ही प्रसंगानुसार प्रदान करना अधिक हितकर है। वनस्पति-विज्ञान, प्रकृति-निरीक्षण, शरीर-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान तथा सामाजिक जीवन के पाठों में पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, मनुष्य के अंग-प्रत्यंगों के साथ नर-तिल्ली, मादा-तिल्ली, गर्भकेसर, बच्चेदानी, पॉलीनेशन, ट्रांसफारमेशन इत्यादि की चर्चा करते समय गर्भाधान, जननेंद्रिय-सम्बन्धी रोग इत्यादि की शिक्षा भी प्रदान कर देनी चाहिए। हाँ, इस समय दो-एक बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। प्रथम, जब शिक्षक काम-शिक्षा दे, तो उसे अपने मन से यह भाव निकाल देना चाहिए कि वह किसी घृणित अथवा गुप्त वस्तु के विषय में बातचीत कर रहा है, उसका मन स्वच्छ तथा शुद्ध होना चाहिए। उसके मन में किसी प्रकार की ग्लानि अथवा संकोच, ओठों पर मुस्कराहट आदि न होनी चाहिए। उसी तरह सरल रीति से बातचीत करनी चाहिए जैसे वह पाठ-विषयक अन्य बातें करता है। द्वितीय, प्रत्येक बात स्पष्टतः साधारण भाषा द्वारा नहीं बताई जा सकती; अतः भाषा का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। गन्दे भाव उत्पन्न करने वाले अश्लील शब्दों का प्रयोग न करना चाहिये। तृतीय, कभी-कभी किसी-किसी बालक को इस विषय की शिक्षा अलग निजी तौर पर भी दी जा सकती है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा प्रत्येक बालक के साथ नहीं किया जा सकता, कारण कि सभी बालक समान नहीं होते,

विभिन्न बालकों के भावों, विचारों तथा ज्ञानों में बहुत भेद होता है। किस बालक को इस प्रकार समझाया जा सकता है, यह बालक के भावों, विचारों तथा चरित्र पर और अध्यापक के साथ उसके व्यवहार पर निर्भर है।

इस विषय को समाप्त करने के पूर्व काम-वृत्ति के विकास की संक्षिप्त विवेचना कर देना नितांत आवश्यक प्रतीत होता है, कारण कि यह विषय विवादग्रस्त है और इसमें प्राचीन तथा नवीन मतों और विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के मतों में बहुत कुछ मत-भेद है।

काम-वृत्ति का विकास

प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने 'काम' शब्द को अत्यंत संकुचित अर्थ में लिया है। उनके अनुसार काम से आशय जननेंद्रिय-सम्बन्धी उत्तेजना अर्थात् स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के मूल में रहने वाली गूढ़ प्रवृत्ति अथवा सहवास की इच्छा से है। यही कारण है कि वे इस बात को भी भूल गए हैं कि मनुष्य में कोई भी प्रवृत्ति एकाएक उत्पन्न नहीं होती तथा प्रौढ़ों में पाई जानेवाली सभी प्रवृत्तियाँ बच्चों में पाई जानेवाली सूक्ष्म अथवा बीजरूप प्रवृत्तियों के उन्नत तथा विकसित स्वरूप हैं और उन्होंने यौवन-काल में पदार्पण करते ही एकाएक रति की भाँति काम-भाव का प्रस्फुटित होना मान लिया है। वास्तव में 'काम' शब्द विस्तृत है। इससे आशय किसी भी प्राणीमात्र पर आसक्ति अथवा प्रेम हो जाने से है और इसके अन्तर्गत पैतृक-प्रेम, कौटुम्बिक-प्रेम आदि भी आ जाते हैं और माता-पिता, भाई-बहन आदि ही नहीं, अपितु स्वयं

अपना शरीर तक प्रेम-पात्र अथवा वासना-केन्द्र हो सकता है। डा० फ्राइड ने 'काम' को इसी विस्तृत अर्थ में लिया है और प्रौढ़कालीन काम-वृत्ति को शैशव-कालीन काम-वृत्ति का ही विकसित रूप बता-कर दोनों कों परस्पर सम्बन्धित करके काम-प्रवृत्ति की उद्भावना जीवन के प्रारम्भ से ही मानी है और मानसिक रोगियों के मनो-विश्लेषण द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि काम-वृत्ति जन्मजात मूल प्रेरणा है और इसकी जाग्रति जन्म के कुछ दिन पश्चात् ही हो जाती है। यौवनोद्गम-काल के पूर्व तथा पश्चात् की काम-वासना में भेद केवल रूप तथा पात्र का है। डा० फ्राइड के अनुसार काम-भाव का आविर्भाव दो धाराओं में होता है। उसके विकास की 'ओरल स्टेज' (Oral Stage) तथा 'एनल स्टेज' (Annal Stage) दो मुख्य अवस्थाएँ हैं जो सुप्तावस्था से एक दूसरे से पृथक् होती हैं। ओरल स्टेज लगभग ६-७ वर्ष तक रहती है और इसमें काम-वासना का जननेन्द्रिय से कोई सम्बन्ध नहीं होता; एनल स्टेज युवावस्था से प्रारम्भ होती है और इसमें काम-वासना जननेन्द्रिय-सम्बन्धी होती है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच उत्तर बाल्य-काल से यौवनोद्गम-काल तक सुप्तावस्था रहती है, जिसमें काम-वासना मन्द रहती है। उन्होंने काम-वृत्ति की प्रमुख विकास-श्रेणियाँ निम्नलिखित मानी हैं—

(१) स्व-शरीर रति की अवस्था (Auto-erotic Stage)—प्रारम्भ में बच्चों को विभिन्न शरीरावयवों अथवा इन्द्रियों की उत्तेजना में आनन्द मिलता है, अतः उसका प्रेम-पात्र स्वयं उसका

शरीर होता है और उसकी वासनाएँ आभ्यंतरिक होती हैं और उनकी तृप्ति उसके शरीर के भीतर ही हो जाती है। इस समय के मुख्य वासना-केन्द्र मुख, चक्षु, गुदा तथा जननेन्द्रिय हैं। सर्वप्रथम शिशु माता का स्तन, दूध की शीशी, शहद की चुसनी, ढुद्धि लगी हुई तुतई, स्वयं अपनी उंगली अथवा अंगूठा आदि वस्तुएँ मुख के भीतर ले जाने में आनन्द का अनुभव करता है। यही कारण है कि प्रायः बालक अपनी दादी-नानी आदि के शुष्क स्तन को अथवा रिक्त तुतई, शहद की चुसनी, हाथ-पैर का अँगूठा, इत्यादि निरर्थक ही, कोई खाद्य पदार्थ अथवा स्वाद न होने पर भी, चचोड़ा करता है। इससे उसके मुख की उत्तेजना शान्त और वासना तृप्त होती है। तत्पश्चात् प्रायः बालक अग्नि, दिया, बिजली आदि का प्रकाश तथा रंग-बिरंगे खेल-खिलौने एकटक देखने में आनन्द का अनुभव करता है। तदुपरान्त उसे मलद्वार से मल निकालने तथा रोकने में और अन्त में जननेन्द्रिय से मूत्र निष्क्रमित करने तथा रोकने में सुख प्रतीत होने लगता है। यही कारण है कि कभी-कभी बच्चे जननेन्द्रिय को छुआ करते हैं।

(२) आत्म-रति की अवस्था (Narissim Stage)—यह अवस्था लगभग दो-ढाई वर्ष तक रहती है। इसमें बालक स्वयं अपने को ही वासना-केन्द्र बनाकर प्रेम-पात्र बना लेता है और सब से अधिक प्यार करता है। हाथ-पैर उछालना, किलकारी मारना, हँसना, ताली बजाना, 'ता, आदि करना, चलना, नाचना आदि अनेक क्रियाएँ किसी दूसरे के लिये नहीं होतीं, अपितु इनमें

उसे सहज आनन्द आता है और वे आत्म-तुष्टि के लिए होती हैं।

(३) बाह्य रति की अवस्था (Allo-erotism)—यह अवस्था ६–७ वर्ष तक रहती है। इसमें वासना अपने शरीर के अतिरिक्त किसी बाह्य प्राणी पर केंद्रित हो जाती है। प्रारम्भ में लगभग २-३ वर्ष तक उसकी प्रेमपात्र उसकी माता अथवा धाय होती है। इस समय वह पिता को माता के प्रेम में बाधक समझता है, परन्तु कुछ समय पश्चात् जब वह उसके लिए खेल-खिलौने, मीठा-सीठा आदि लाने लगता है, तो वह उससे भी प्रेम करने लगता है। अन्त में जब भाई-बहन उसे भीतर-बाहर लाने ले जाने लगते हैं, खाने-पीने की वस्तु देने लगते हैं, तो वह उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। तीन वर्ष के पश्चात् जब वह स्वयं घर के बाहर-भीतर आने-जाने लगता है और अन्य साथी खेलने को मिल जाते हैं, तो उसका प्रेम माता-पिता, भाई-बहन आदि से हटकर साथी बालकों की ओर अर्थात् लड़कों का लड़कों की ओर और लड़कियों का लड़कियों की ओर आकर्षित हो जाता है। यही कारण है कि कभी-कभी जब कि वे अन्य बालकों के साथ बाहर खेलते होते हैं, तो माता-पिता के खाने-पीने की वस्तु आदि का लालच देने तथा बहलाने-फुसलाने पर भी वे अपने साथियों तथा खेल को छोड़कर नहीं आते हैं। यह अवस्था ६-७ वर्ष तक रहती है।

(४) सुप्तरति की अवस्था (Latency Period)—यह ६-७ वर्ष से यौवनोद्गम के पूर्व लगभग १०–११ वर्ष तक रहती है। इसमें वासना मन्द पड़ जाती है। बालक अन्य बातों में इतना

मग्न रहता है कि उसका ध्यान ही इधर नहीं जाता और काम-वासना सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। यद्यपि घृणा, लज्जा आदि भावों का प्रदर्शन ४-५ वर्ष की आयु से प्रकट होता है।

(५) मित्र-रति की अवस्था—यह १०-११ से १२-१३ वर्ष तक रहती है। इस समय अभिनयात्मक क्रीड़ाओं का समय समाप्त हो जाता है और दलबद्धता की प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है। अतः बालक अपने दल के अन्य बालकों की ओर आकर्षित होने लगता है और पारस्परिक मित्रता उत्पन्न हो जाती है। अतः सामाजिक जीवन में 'काम' का बहुत महत्त्व है और वह एक मूलभूत प्रेरणा अथवा शक्ति है। यहां यह न भूलना चाहिए कि उक्त दल तथा मित्रता सजातीय बालकों में ही होती है, कारण किशोरावस्था में पदार्पण करते ही लड़कियाँ अधिक संकोची और लड़के अहंकारी होने लगते हैं। लड़कियों को लड़कों के साथ खेलने, मिलने-जुलने आदि में लज्जा और लड़कों को तुच्छता प्रतीत होती है और उनका पारस्परिक सम्बन्ध पूर्ववत् अबद्ध तथा निःसंकोच नहीं रहता।

(६) स्त्री-पुरुष रति की अवस्था—अन्त में यौवन के पदार्पण करते ही लगभग १२-१३ वर्ष में वह अवस्था आजाती है, जिसमें काम-वासना का वही अर्थ होजाता है जो कि प्रायः लाग समझा करते हैं अर्थात् 'स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के मूल में रहनेवाली गूढ़ प्रवृत्ति'। इसके पूर्व काम-वासना साधारण होती है और जननेंद्रिय द्वारा प्रेरित नहीं होती, परन्तु इस अवस्था में

वह जननेन्द्रिय से सम्बन्धित हो जाती है और उसका केन्द्र इतरजातीय व्यक्ति अर्थात् युवक का युवती और युवती का युवक होता है और वे परस्पर एक दूसरे की ओर आकर्षित होने लगते हैं; परन्तु यह आकर्षण अथवा प्रेम पूर्ववत् सरल तथा केवल मित्र-सम्बन्धी नहीं होता, अपितु स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम के समान होता है और इसकी बाढ़ इतनी तीव्रता से आती है कि यदि प्रकृति ने इसमें सुशीलता, संकोच अथवा लज्जारूपी बाँध न लगा दिये होते, तो ईश्वर जाने इसकी धारा युवक-युवतियों को कहाँ बहा ले जाती और क्या-क्या करा डालती। यही कारण है कि प्रायः इस अवस्था में लगभग १४-१५ वर्ष की आयु में लड़के-लड़कियों में प्रेम-सम्बन्ध जुड़ जाता है और प्रेम-घटनाएं हो जाया करती हैं। इस समय बालकों को प्रेम-कथाएं तथा उपन्यास पढ़ने में भी आनन्द का अनुभव होने लगता है, कारण कि उनमें उनकी काम-वासना के प्रदर्शन के लिये क्षेत्र और मानसिक तृप्ति के लिये पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। कभी-कभी काम-वृत्ति दूषित भावों, विचारों, चित्रों तथा विजातीय व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा भी उत्तेजित होती है; क्योंकि इस समय काम-वृत्ति अपरिपक होती है, अतः सहज में ही तनिक-सी असावधानी से ही दूषित तथा विकृत हो जाती है और बालक अनेक प्रकार की कुटेवों अथवा दुर्व्यसनों में ही नहीं पड़ जाते, अपितु काम-प्रवृत्ति का उचित विकास भी अवरुद्ध हो जाता है और किशोरावस्था के प्रारम्भ की सलिंगीय बालकों के प्रति मित्र-

भाव की प्रवृत्ति अधिक समय तक चलते रहने के कारण कुत्सित प्रेम-भाव का रूप धारण कर लेती है और १६ वर्ष की अवस्था आने पर भी इतर-जातीय व्यक्तियों के प्रति उत्पन्न होनेवाली उस समय की स्वाभाविक प्रेम-भावना में परिवर्तित नहीं होती। चूंकि इस अवस्था में जो स्वभाव पड़ जाता है वह प्रौढ़ावस्था में भी चलता रहता है और उसका चरित्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है, अतः लगभग १६-१७ वर्ष तक अर्थात् जब तक कि काम-वृत्ति परिपक्व न हो जाय, उसके उन्नयन (Sublimation) की बड़ी आवश्यकता है जो कि पढ़ने-लिखने, खेलने-कूदने—विशेषकर अधिक परिश्रम तथा प्रयत्न के खेल से बचने वाले समय को अखाड़ेबाज़ी, प्रकृति-निरीक्षण, ड्राइंग, चित्रकारी, कविता आदि में परिवर्तित कर देने से सहज ही हो जाता है। काम-वासना का परिष्कृत रूप (Sublimated sex instinct) कविता-कला आदि का जन्मदाता भी है, चूंकि इस समय की प्रेम-भावना अत्यन्त उत्कट होती है, अतः उसे निःस्वार्थ समाज अथवा देश-सेवा के भाव में परिवर्तित कर देना भी अच्छा है।

(७) जननसाधक रति की अवस्था—लगभग १७-१८ वर्ष की अवस्था में काम-वृत्ति परिपक्व होकर जनन-कार्य की साधक बन जाती है। इस समय स्त्री-पुरुष का प्रेम सन्तानोत्पत्ति की वासना का रूप धारण कर लेता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का यह उचित समय है।

६

बच्चों के खेलों का विकास

(जन्म से ४-५ वर्ष तक)

जन्मजात शिशु इतना अबोध तथा अशक्त होता है कि उसको रोने, दूध पीने तथा मल-मूत्र त्यागने के अतिरिक्त न तो किसी वस्तु का ज्ञान ही होता है और न वह कुछ कर ही सकता है। यदि इस समय उसको निस्सहाय अवस्था में छोड़ दिया जाय, तो उसका दो-चार घंटे जीवित रहना भी कठिन हो जाय। खेलों का सम्बन्ध आँख-कान, हाथ-पैर, चेतना आदि से है, परन्तु जन्म-जात शिशु की न तो आंख ही पूर्णतः कार्य करती है और न कान ही। चेतना भी उसमें नहीं के बराबर होती है। यदि उसके पिन चुभो दी जाय, तो भी शायद उसे पता न चले। यही कारण है कि प्रायः माता-पिता बच्चों की छठी अंगुली (जिनके होती है) उनके पैदा होते ही कटवा देते हैं अथवा मुसलमानों में बहुत से बच्चों की मुसलमानी इस समय हो जाती है। एक दिन का बालक रोशनी तक नहीं देख सकता, परन्तु पाँचवें दिन उसको रोशनी का ज्ञान होने लगता है और उसकी निगाह उस पर ठहरने लगती और लगभग महीने सवा महीने तक तो उसकी दृष्टि पूर्णतः ठहर जाती है और वह चलती-फिरती वस्तुओं की ओर दृष्टि घुमाने-फिराने लगता है।

कर्णेन्द्रिय की भी यही दशा है। लगभग दो-तीन दिन तक तो उसके कर्ण-पटल में वायु का प्रवेश ही नहीं होता, परन्तु चौदहवें-पन्द्रहवें दिन तक बच्चा सुनने लगता है अतः प्रारंभ में तो उसे मनोरंजन के लिए किसी खेल आदि की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शारीरिक तथा मानसिक शक्तियां भी बढ़ती जाती हैं और तदनुसार ही मन बहलाने के लिए खेलों की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। लगभग तीन मास में बालक को अपने शरीरांगों का भी अनुभव होने लगता है और वह माता का स्तन, अपने हाथ की अंगुली अथवा अंगूठा, दूध की शीशी, रबड़ की दुद्धी आदि चूसने में आनंद का अनुभव करने लगता है। लगभग तीन मास में बालक की गर्दन टिक जाती है और चौथे-पांचवें महीने में उसे उलटकर, गर्दन उठाकर इधर-उधर देखना, मुंह से अस्पष्ट ध्वनि निष्क्रमित करना, हाथ-पैर हिलाना तथा करवट लेना या उलट जाना अच्छा लगता है। इस समय उसे लैम्प, बिजली आदि की रोशनी तथा रंगीन खेल-खिलौने आदि देखना भी अच्छा लगता है। इस प्रकार लगभग ६ मास के बालक को अपने शरीर के अंगों का भली भांति ज्ञान हो जाता है और वह शरीर से खेलने, हाथ-पैर उछालने, गूं-गूं करने और हँसने लगता है। ६ मास के पश्चात् उसके जीवन में एक नवीन परिवर्तन होता है। तीन-चार मास तक उसमें अन्य प्राणियों तथा बाह्य वस्तुओं को देखने की रुचि नहीं होती, परन्तु इस समय वह चलते-फिरते प्राणियों तथा वस्तुओं की ओर निगाह उठाकर देखने में

आनंद का अनुभव करने लगता है। इस समय तक वह उल्टा होकर पेट के बल आगे-पीछे को खिसकने भी लगता है। इस आयु में रङ्गीन तथा चमकीले खेल-खिलौने, कागज-पत्तर, कपड़ा-लत्ता आदि बालक के पास डाल देने चाहिएँ, जिससे वह खेलना सीखे। कभी-कभी माँ-बाप इस कार्य में बहुत शीघ्रता करते हैं। वे चाहते हैं कि उनका बच्चा जल्दी से शरीर के अंगों पर अधिकार कर ले और हँसने-खेलने, बैठने-उठने, उछलने-कूदने लगे। ऐसा करने से उसकी शारीरिक वृद्धि के क्रम में बाधा पड़ जाती है और वह क्रोधी, चिड़चिड़ा, और ज़िद्दी हो जाता है। ६ मास तक बालक माता को भली भाँति और पिता को कुछ-कुछ पहचानने लगता है और यह देखकर कि वे उसके हँसने से खुश होते हैं, वह बहुत प्रसन्न होता है और हाथ-पैर उछालने लगता है। धीरे-धीरे वह बातें करते समय माँ के मुख पर होने वाली चेष्टाओं को भी समझने लगता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह माता-पिता को प्रसन्न करने के लिए ऐसा करता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि ४–५ वर्ष तक बालक की रुचि आत्म-सम्बन्धी होती है, पर-सम्बन्धी नहीं; अर्थात् वह जो कुछ क्रियाएँ करता या खेल खेलता है, वे आत्म-तुष्टि अथवा आत्म-मनोरंजन के लिये होते हैं, किसी दूसरे को प्रसन्न करने के लिये नहीं। यही कारण है कि प्रायः ६-७ मास का बालक बहुत देर तक खाट पर अकेला पड़ा-पड़ा मुंह से कूं-कूं. गूँ-गूँ आदि शब्द निकालता और हाथों-पैरों से जल्दी-जल्दी साइकिल-सी चलाता रहता है। इस समय

माता-पिता को चाहिए कि वे बच्चे के साथ कुछ देर तक खेलें, उससे मीठी मीठी बातें करें और मधुर गीत तथा लोरियां सुनाएँ, जिससे वह भाषा सुनने का अभ्यस्त होकर बोलना सीख जाय, परन्तु उससे ऊँचे स्वर में न बोलें अन्यथा वह सहम जायगा और सदा के लिये संकोची, डरपोक तथा बुज़दिल हो जायगा। ५–६ मास के बालक गीत-लोरियाँ आदि सुनकर बड़े प्रसन्न होते हैं। कुछ सुन्दर गीत तथा लोरियों के दो-एक नमूने यहाँ दिये जाते हैं:—

(१) लाला आए लाला काउ न बताए।
चंदन के धोखे लाला हिये ते लगाए॥

(२) आजा री निंदिया तू आजा,
मेरे बाले की आँखों में घुल-मिल जा।

(३) हाट-बाट में गली गली में नींद करे चकफेरी।
शाम को आवे पूत सुलावे, उठ जाय बड़ी सबेरी॥

लगभग ६-७ मास में बालक चमकीली वस्तुओं, लकड़ी, मिट्टी, चीनी, गटापार्चे तथा रबड़ के रंग-बिरंगे खिलौनों, कागज, दियासलाई की डिब्बी आदि से भी खेलने लगता है। इन सब को वह कसकर हाथों में पकड़ने तथा मुंह में रखने में परम आनन्द का अनुभव करता है। इस समय चमकता हुआ चम्मच उसे अत्यन्त प्रिय लगता है और वह उसे मुट्ठी में पकड़कर, चबाकर और उसमें अपना मुंह देखकर बहुत प्रसन्न होता है। इस समय उसे रबड़ की चिड़िया, गुड़िया तथा गेंद आदि अच्छी लगती हैं। इस

समय उसे ताली का गुच्छा, डोरे या फीते की रील, जिस पर से डोरा या फीता उतारना उसे अच्छा लगता है, कागज का तोता फिरकी आदि, खिलौने देने चाहिएं। इस समय बच्चा अपनी खाट पर पड़ा हुआ, ऊपर टंगा हुआ लाल कपड़ा, गुड़िया, गट्टा-पार्चे की लाल मछली आदि देखकर बहुत उछलता-कूदता है। (संभवतः लाल रंग अधिक चटकीला होने के कारण बालक को अधिक प्रिय लगता है)। इस प्रकार खिलौनों से खेलना और हाथ-पैर चलाना स्वास्थ्य तथा शारीरिक उन्नति के लिए अत्यन्त लाभ-दायक है, कारण कि इसके द्वारा हाथों-पैरों की अच्छी कसरत हो जाती है।

लगभग ७-८ मास में बालक बैठने तथा घुटनों चलने योग्य होने लगता है और उसे पानी में मुंह देखने तथा छप-छप करने, गुंधे हुए आटे, उबले हुए आलू, घुइयां, गीली मिट्टी इत्यादि में हाथ डालने में बड़ा आनन्द आता है। किसी किसी बालक को अपना मल-मूत्र मथना और मुंह में दे लेना भी अच्छा लगता है। इस समय उसे ज़मीन तथा दीवार कुरेदने और मिट्टी खाने में भी बहुत आनन्द आता है। ये दोनों गंदी और हानिकारक आदतें हैं, इन्हें छुड़ाना ही अच्छा है। डरा-धमका अथवा मार-पीटकर हम इन आदतों को नहीं छुड़ा सकते। जो लोग ऐसा करते हैं वे भूल करते हैं। छोटे अबोध शिशु नासमझ होते हैं, उन्हें मारना-पीटना, डराना-धमकाना उचित नहीं। इससे वे सकुच जाते हैं और सदैव के लिए संकोची और डरपोक बन जाते हैं। इसके

अतिरिक्त बच्चों में एक प्रवृत्ति होती है कि उनसे जिस काम के लिए मना किया जाता है उसे वे अदबदा कर करते हैं, कारण कि उनकी जिज्ञासा-प्रवृत्ति प्रबल होती है। देखना चाहिए कि वह ऐसा करते क्यों हैं। वास्तव में बात यह है कि बालक इस समय गीली वस्तुओं में हाथ इसलिए डालता है कि वह अपने हाथों की शक्ति दिखाना चाहता है और मुंह में हर एक वस्तु को इसलिए रख लेता है कि उसे एक प्रकार का आनन्द मिलता है और उस वस्तु के चचोड़ने से निकलने वाले दांतों के कारण होने वाली सुरसुराहट शांत होती है। अतः उसे कोई दूसरी ऐसी वस्तु दे देनी चाहिए जिससे हानि भी न हो और वह मुख के आनन्द से भी वंचित न रहे। तदनुसार इस समय उसे खेलने के लिए साफ गीली मिट्टी, रंगीन चमकीली रबड़ की गेंद, चिड़िया, गुड़िया इत्यादि देनी चाहिएं जिन्हें वह अपनी उंगलियों से दबा सके और मुंह में रख सके। ऐसा करने से कुछ ही दिनों में वह अपना मल-मूत्र मथना और खाना अथवा दीवाल कुरेदना और मिट्टी खाना जैसी गन्दी आदतें सहज ही में छोड़ देता है।

लगभग ६ मास में बालक को विभिन्न वस्तुओं की ध्वनि सुनने में भी आनन्द आने लगता है, अतः उसे झुनझुना, रबड़ की बोलने वाली चिड़िया, गुड़िया आदि, बजने वाले खिलौने और घड़ी की घंटी आदि सुनना बड़ा प्रिय लगता है। उस समय वह गेंद, गुड़िएं, रबड़ के खिलौने आदि दबाकर, चम्मच, कटोरी, मिट्टी के खिलौने आदि फेंककर, कागज फाड़कर, झुनझुने बजा

कर, उनकी ध्वनि सुनने और साथ ही साथ अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने की चेष्टा करता है। इस समय उसमें चित्रादि देखने की रुचि भी उत्पन्न हो जाती है और वह पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने उलटने-पलटने लगता है। उसे कागज पर छपी हुई गाय-बैल, कुत्ता-बिल्ली, तोता आदि जानवरों की तसवीरें देखने में भी बड़ा आनंद आता है, परन्तु क्योंकि उसमें कागज को तोड़-मरोड़ अथवा फाड़-फूड़कर उसकी ध्वनि सुनने की भी प्रवृत्ति होती है, अतः वह प्रायः कागज की तसवीरें फाड़ डालता है। कागज फाड़ने की प्रवृत्ति के प्रबल होने से ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के अत्यधिक बढ़ जाने का डर रहता है। अतः बच्चों को कागज की तसवीरों के स्थान में कपड़े पर छपी हुई तसवीरें देनी चाहिएँ और उनके कमरे को रंगीन खिलौनों तथा चित्रों से सुसज्जित रखना चाहिए।

लगभग ९–१० मास में बच्चों में अपनी माता, धाय आदि के साथ खेलने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है और वह माँ को देखकर हाथ-पैर फेंकने, उछलने-कूदने तथा किलकारी मारने लगता है और माताएँ भी उनको ऐसा करते देखकर अत्यंत प्रसन्न होती हैं। अतः माता-पिता को भी चाहिए कि वे थोड़ी देर तक बालक के साथ खेलें और खिलाते-कुदाते, सुलाते, दूध आदि पिलाते समय तरह तरह के गीत तथा, लोरियां सुनावें, जिसमें उसे आनंद भी आवे और वह भाषा सुनने का भी आदी हो जाय। कुछ ऐसे गीत तथा लोरियों के नमूने नीचे दिए जाते हैं:—

(अ) सुलाते समयः—

(१) मेरा लाल पूत बनजारा।
अपने बाबुल का दुलारा ।।
तेरे गल सोने की माला।
तू ओढ़े शाल-दुशाला ।।

(२) आजा री निंदिया आजा, तेरी बाला जोहे बाट,
सोने के हैं पाये जिसके, रूपे की है खाट।
मखमल का है लाल बिछौना, तकिया झालरदार,
सवा लाख हैं मोती जिसमें, लटकें लाल हजार।
चार बहू आवें बाले की, दो गोरी दो काली ।।
दो झुलावें, दो खिलावें ले सोने की थाली।

(अ) दूध-पिलाते समयः—

(१) लाला लाला ओरी,
दूध भरी कटोरी।
दूध के बताशे,
लाला को तमाशे।

(२) दूध पियो जाऊँ मैं बल,
काहे भरा आँख में जल।
झटझट पीकर चलो बजार,
नटखट लड़का बड़ा गंवार।

(३) रूठने परः—

अरी चिड़िया अरी चिड़िया,
बाले को ला खाँड की पुड़िया।

वाला है सुलतान हमारा,
रूठ बिताता है दिन सारा।

(ई) मुंह धोते समय:—

किच्ची किच्ची कौवा खाय,
दूध-मलाई भय्या खाय।

चूंकि बालक में इस समय अनुकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है, अतः वे इसके द्वारा उसको अनेकों उपयोगी अनुकरणात्मक खेल सिखा सकते हैं। उदाहरणार्थ, वे उसको जीभ निकालना, जीभ चटकारना, पुचकारना आदि 'ताली बजी ताल से, लाला आए बजार से' कहकर ताली बजाना, हाथ जोड़कर नमस्ते अथवा जै करना, कोई वस्तु देने पर हाथ उठाकर 'बच्चा इतना बड़ा' अथवा 'भैया कड़ुए नीम से भी बड़ा' इत्यादि कहकर हाथ उठाना, चंदा, चिड़िया आदि दिखाकर 'चंदा मामा आजा, भय्ये को सुला जा, 'आजा री चिड़िया आजा, मुन्नी को सुलाजा' आदि कहकर हाथ से बुलाना, हाथ उठाकर हाथ का प्यार देना, इत्यादि खेल सिखा सकते हैं। चन्द्रमा को दिखा दिखाकर गाने और पास बुलाने के एक-दो सुन्दर गीत नीचे दिये जाते हैं:—

(१) चंदा मामा ऊर के पूर के,
आप खाएं थाली में।
हमें खिलायें प्याली में॥
प्याली गई फूट।
चंदा मामा गए रूठ॥

प्याली आई और ।
चंदा मामा आए दौड़ ॥

(२) चंदा मामा आजाओ ।
ढपली बना जाओ ॥
ढपली में तोता ।
चंदा मामा के हम पोता ॥

इस समय बालक को कुर्सी, खाट आदि के सहारे खड़ा होना और चलना एवं किसी की गोदी में जाने पर ऊपर को चढ़ना भी अच्छा लगता है। इससे बालक का अपने शरीरांगों तथा स्नायुओं पर अधिकार बढ़ता है और हाथों-पैरों की अच्छी कसरत हो जाती है और उनकी शक्ति भी बढ़ती है।

लगभग ११-१२ मास में बालक में भाषार्जन करने की रुचि भी पाई जाती है और वह बार-बार सुने जाने वाले नाम जैसे मां, अम्मां, चाचा, बुआ, पापा, मामा, अब्बा आदि बोलने लगता है। यह बोलना भी प्रारम्भ में उसके लिए खेल-स्वरूप रहता है। यही कारण है कि वह कभी-कभी स्वयं ही झटके से बुआ, चाचा आदि दोहराया करता है। अतः माता-पिता को चाहिए कि वे इस समय एक ही शब्द को खेल-स्वरूप बार-बार दोहराकर बालक को बोलना सिखायें। अनुकरण करने की प्रवृत्ति लगभग ५—७ वर्ष तक चलती रहती है।

यद्यपि ६–७ मास के बाद बालक विभिन्न पदार्थों तथा

खिलौनों से खेलने लगता है, तथापि इनकी सब से अधिक रुचि एक वर्ष के पश्चात् ही होती है; परन्तु इसके यह मायने नहीं हैं कि उसकी स्व-शरीर से खेलने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, अपने शरीर से खेलने की प्रवृत्ति प्रायः दो वर्ष तक चलती रहती है। यही कारण है कि वर्ष-डेढ़ वर्ष के बालकों को भी उछलने-कूदने, नाचने-हंसने, किलकारी मारने, ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने में बहुत आनंद आता है। इससे उनके अंग, इंद्रियाँ तथा स्नायु दृढ़ होते हैं। खिलौनों से खेलने की उसकी प्रवृत्ति लगभग ६ वर्ष तक चलती रहती है।

एक वर्ष के पश्चात् जिज्ञासा-प्रवृत्ति का प्रत्यक्षतः आविर्भाव हो जाता है। अतः १ से २ वर्ष तक के बालक की खिलौने तथा अन्य क्रीड़ा-पदार्थ देखकर ही तुष्टि नहीं होती, वह उन्हें हाथ से टटोलकर, ऊपर-नीचे उलट-पुलटकर, फेंककर, तोड़-फोड़कर भी देखना चाहता है। उदाहरणार्थ बच्चा शीशे में अपना मुख देखकर अथवा घड़ी की घंटी सुनकर उसे प्रथम उलट-पलट कर देखता है और जब उसकी समझ में कुछ नहीं आता, तो उसे उठाकर पटक देता है और तोड़कर उसके भीतर देखना चाहता है। इसी प्रकार पेंसिल अथवा कलम हाथ लग जाने पर वह उससे टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींच डालता है, सजी हुई अथवा क्रम से रखी हुई वस्तुओं को इधर-उधर कर डालता है। इस समय उसे ऊपर से नीचे वस्तुएं फेंकने में बड़ा आनन्द आता है। इस प्रकार ध्वंसात्मक क्रीड़ाओं में उसे अपनी शक्ति का बोध और पदार्थों का

ज्ञान होने के अतिरिक्त विजय का सा आनन्द भी आता है। ध्वंसात्मक खेलों की प्रवृत्ति प्रायः २ वर्ष के पश्चात् भी लगभग ४ वर्ष तक चलती रहती है। इस अवस्था में बालक को ऐसे खिलौने न देने चाहिएं जो शीघ्र टूट-फूट जायं, अन्यथा उसको विभिन्न वस्तुएं तोड़ने-फोड़ने और व्यर्थ हानि करने की आदत पड़ जायगी। इस समय उसे लकड़ी, टीन आदि के खिलौने देने चाहिएं और इतने पर भी यदि बालक कोई खिलौना तोड़-फोड़ डाले और हानि कर दे, तो उसे मारना-पीटना, डाटना-डपटना अथवा उस पर क्रोधित होना न चाहिए, अपितु प्रेम और सहानुभूति के साथ बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए। इस अवस्था में बालकों को पानी में खेलना, आटा, अनाज, राख, मिट्टी आदि में मुट्ठी भरना और फेंकना, छिपकर 'ता' करना, 'आटे-बाटे दही चटाके' तालियां बजाना, कुत्ते, बिल्ली आदि को नोचना तथा उनसे खेलना भी अच्छा लगता है। मिट्टी में खेलना बुरा नहीं, अपितु स्वास्थ्य-वर्द्धक है, परन्तु खेद है कि हम लोगों के घरों में अथवा उनके आस-पास गंदी मिट्टी रहती है। यदि हम घरों में एक छोटा सा गड्ढा खुदवाकर उसमें थोड़ा-सा रेत या स्वच्छ मिट्टी बच्चों के खेलने के लिए भरवा दें तो अच्छा है। इसके अतिरिक्त इस समय हम उन्हें रबड़ के छोटे, नरम फुटबाल भी दे सकते हैं, जिससे उनकी अंगुलियों द्वारा दबाने तथा फेंकने की जिज्ञासा शांत हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस समय बालक के अनुकरणात्मक खेलों की संख्या भी बढ़ जाती है। वह प्रायः किसी वस्तु को सिर पर रखकर दही बेचना,

पुस्तक खोलकर अ आ, दो-तीन आदि कहकर पढ़ने की नकल करना, कहारी की भाँति मिट्टी से बर्तन माँजना और धोना, चलनी लेकर अपनी माता की भाँति आटा छानना, चाकू पा जाने पर तरकारी काटना, कंघा पा जाने पर सिर में तेल की जगह पानी लगाकर बाल संवारना, माता अथवा धाय की भांति अपने छोटे भाई-बहन आदि को प्यार करने, गोद में लेने, दूध पिलाने आदि की चेष्टा करना, साबुन पा जाने पर मुंह धोने की नकल करना, अपने पिता, बड़े भाई आदि को सिगरेट पीते देखकर दियासलाई की सींक आदि मुंह में देकर सिगरेट पीने की नकल करना, माता-पिता को कान कुरेदते देखकर दियासलाई पा जाने पर कान कुरे-दने की नकल करना, जूता पैर में डालकर जूता पहनने की नकल करना, चारों हाथों-पैरों के बल खड़े होकर घोड़ा बनना, झाड़ू देना, माता-पिता की भांति 'कलूजा (खरबूजा) ऐं' अथवा केवल 'एँ-एँ' करके सौदा-सुलफ अथवा फेरीवाले को बुलाना, सीने की मशीन पा जाने पर मशीन चलाना, कैंची पा जाने पर कपड़ा कतरना, पानी से तख्ती धोना, दियासलाई से लैम्प जलाना इत्यादि अनु-करणात्मक खेल भी खेलने लगता है। इस समय बालक की दशा ठीक उस बन्दर की तरह होती है जो किसी को हजामत बनाते देखकर उसका शीशा तथा उस्तरा पा जाने पर हजामत बनाने की नकल करने की धुन में अपना मुख क्षत कर लेता है। अतः माता-पिता का कर्तव्य है कि वे इस समय बालक के सामने ठीक वही काम करें जिनकी नकल करना उसके लिये हानिकारक न हो।

इसके अतिरिक्त वह कभी-कभी माता-पिता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये झूठा रोना भी रोया करता है और चाहता है कि वे उसे गोद में घर के बाहर ले जायं।

दो वर्ष के पश्चात् बालक को चलते फिरते खिलौने, जैसे टीन की रेल, गेंद, लकड़ी की गाड़ी आदि भी अच्छे लगते हैं और पैसे, शीशे अथवा पत्थर की गोली आदि लुढ़काना और साइकिल का पैडिल घुमाकर चेन चलाना भी रुचिकर प्रतीत होता है।

लगभग ३ वर्ष की आयु में बालक भली भाँति चलने फिरने लगता है, घर के भीतर-बाहर आने-जाने लगता है और उसे माता-पिता, धाय आदि वयस्क व्यक्तियों के स्थान में समवयस्क बच्चे मिलने लगते हैं, अतः माता-पिता के प्रति उसका पूर्ववत् प्रेम नहीं रहता अर्थात् अब उसमें माता-पिता के साथ रहने तथा खेलने और उनको अपनी बातों तथा क्रियाओं पर खुश होते देखकर प्रसन्न होने की प्रवृत्ति कम होने लगती है। इस समय अन्य बच्चों के साथ अथवा स्वान्तःसुखाय अकेले खेलने में उसे अधिक आनन्द आता है। अतएव इस समय उसे लंगड़ लड़ाने, लंगड़ ऊंची जगह से लटकाने, मिट्टी का घोड़ा या ईंट चीर से बाँधकर घसीटने, डंडे से गिल्ली पीटने, गेंद या गोली लुढ़काने तथा फेंकने, ईंटें एकत्रित करने, लकड़ी आदि से खेलने तथा सीटी, बाजा आदि बजाने में आनन्द आता है। वह पुस्तक में चित्र देखकर भी बड़ा प्रसन्न होता है और किसी को भुजउआ (बन्दर), किसी को बल्ली (बिल्ली), किसी को तुत्ता (कुत्ता)

आदि बताया करता है। इसके अतिरिक्त इस समय उसके अनुकरणात्मक खेलों का रूप भी कुछ उन्नत हो जाता है और वह घर के, बाहर के मनुष्यों तथा वस्तुओं की भी नकल करने लगता है। उदाहरणार्थ वह सौदा-सुलफ़ बेचने वालों की तरह 'आजाओ मुनुआ, कालो (खालो) मुनुआ' आदि आवाज़ लगाकर सौदा बेचने की नकल करता है, ईंटें, फूल, पत्ते आदि बिछाकर दूकान लगाने की नकल करता है, लाठियों आदि से घर बनाता है, ठीकड़ी-चाक आदि से लकीर खींचकर अथवा ईंटें, फूल, पत्थर आदि एक पंक्ति में रखकर, रेल बनाकर उसमें अपने भाई-बहन को बिठाया करता है, लकीरें खींचकर लिखने की नकल करता है, तख्ते के टुकड़े को पत्तों आदि से पोतकर तख्ती पोतने, ईंटों पर फूल डालकर और फूल बिछाकर शिवजी का शृङ्गार करने, पुस्तक खोलकर आ—आ, ई—ई आदि कह कर पढ़ने, ईंट से कील ठोंक कर बढ़ई बनने, साइकिल के फ्रेम पर बैठकर साइकिल पर चढ़ने इत्यादि की नकल किया करता है। अभी बालकों में विश्लेषण करने अर्थात् चीजों को अलग अलग करने की समझ नहीं होती। यही कारण है कि वह बहुत सी वस्तुओं के नाम अशुद्ध बताया करता है, जैसे मेरी ढाई-तीन वर्ष की लड़की घोड़े को भी इक्का, कौवे कबूतर आदि को चिड़िया, पत्थर की मूर्तियों को बाबा, गाय-भैंस को गय्या कहा करती है।

चार-पांच वर्ष की अवस्था में बालक लकड़ी-डंडा, अंगड़-खङ्गड़, खेल-खिलौने आदि एकत्रित कर लेता है और उनसे

घंटों अकेला खेलता रहता है। इस समय उसकी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति अधिक प्रबल हो जाती है और उसके अनुकरणात्मक काल्पनिक खेल उन्नति-शिखर पर पहुंच जाते हैं, जिनका आगे वर्णन किया जायगा। इसके अतिरिक्त इस आयु में प्रायः बच्चे एक दूसरे के कान पकड़कर 'चियाउँ-मियाउँ,' मुट्ठी बंद करके 'बाबा-बाबा आम लाओ,' हाथ पर हाथ रखकर 'बाबा-बाबा पंखी लाओ,' अंगुली के सम्मुख अंगुली ऊपर नीचे रख 'बाबा-बाबा कैंची लाओ,' कमर झुकाकर चलकर 'बुढ़िया-बुढ़िया क्या ढूंढे ?' इत्यादि खेल भी खेलने लगते हैं।

यहां उनमें से एक-दो खेल दिए जाते हैं:—

(१) खेल:— 'बाबा-बाबा, आम लाओ।'

[कम से कम दो बालकों का होना आवश्यक है, एक बच्चा बनता है और दूसरा बाबा। बालक मुट्ठी बन्द करके, एक दूसरे की, एक दूसरे के ऊपर रखते हैं और कहते हैं:—]

बच्चा:— 'बाबा बाबा, आम लाओ।'

बाबा:— 'आम हैं सरकार के।'

बच्चा:— 'हम भी हैं दरबार के।'

बाबा:— 'एक आम उठा लो।'

बच्चा:— (एक मुट्ठी उठाकर और चूमकर) यह तो, बाबा, खट्टा है।'

बाबा:— 'अच्छा, दूसरा ले लो।'

बच्चा:— (मुट्ठी उठाकर और चूमकर, खुशी के मारे उछलकर

कहता है) 'हमारे दोनों मीठे ! हमारे दोनों मीठे !'

इसी प्रकार 'बाबा बाबा, कैंची लाओ' (अंगुली पर अंगुली एक दूसरे के सम्मुख गुणा चिन्ह (×) की भांति रखकर); 'बाबा, बाबा, सुई लाओ' (अंगुली पर अंगुली रखकर); 'बाबा, बाबा, पंखी लाओ' (हाथ फैलाकर एक दूसरे पर रखकर), इत्यादि खेल भी बच्चे खेला करते हैं।

(२) खेल:— 'च्याउं-म्याउं'

[कम से कम दो बालकों का होना आवश्यक है। दोनों बालक हाथ पर हाथ रखते हैं। फिर एक बालक धीरे-धीरे हाथ पर थप्पड़ मारकर कहता है :—]

तत्ती तत्ती पूरियां।
घिया चपूड़ियां ॥
बाला मांगे खिचड़ी।
कवूतर मांगे दाना ॥

इसके बाद दूसरा बालक उसका एक कान पकड़ लेता है और फिर ऊपर की पंक्तियां दोहराकर दूसरा कान भी पकड़ लेता है। इसी प्रकार दूसरा बालक भी करता है और जब दोनों एक दूसरे के कान पकड़ लेते हैं, तो हिल-हिलकर कहते हैं :—

बकरी का बच्चा च्यांउं-म्याउं।
गय्या बियानी म्याउं-म्याउं ॥

इसके अतिरिक्त आटे-बाटे, लंगड़ी टांग, कानाबाती कानाबाती कुर्र, बुढ़िया बुढ़िया क्या ढूंढ़े, इत्यादि और भी अनेक खेल खेलते

हैं, जिन्हें हमारे देश के बच्चे भली भांति जानते हैं।

इस अवस्था में बच्चों का मित्रता तोड़ना भी बड़ा मनोरंजक होता है। मित्रता तोड़ने के लिए वे एक गाल पर अंगुली रखकर 'इसमें दाल,' दूसरे पर रखकर 'इसमें भात,' माथे पर अंगुली रखकर 'इसमें रोटी या इसमें राम जी की टिकिया' और ठोड़ी पर रखकर, 'इसमें तरकारी' कहते जाते हैं और अन्त में नाखून से दांत नोचकर और जीभ चटकाकर कहते हैं, 'खुट्टी-खुट्टी' अर्थात मेरी-तेरी मित्रता समाप्त। मित्रता करने के लिए वे एक दूसरे की कन्नी अंगुलियों को चूम लेते हैं।

उनका शपथ चढ़ाना और उतारना भी विचित्र ही होता है। शपथ उतारते समय वे कहते हैं:—

इतनी बड़ी क्या ? सुतली।
तुम्हारी कसम उतरी ॥

या

अकड़ी मकड़ी दूध की धार।
कसम उतर गई गंगा पार ॥

या

मसजिद में क्या ? तारा।
तुम्हारी कसम उतारा ॥

यदि उन्हें किसी को खेल खिलाना नहीं होता तो कहते हैं:—

बाजार में क्या ? आटा।
तुम्हारा खेल काटा ॥

इस प्रकार के खेल यहीं पर समाप्त नहीं हो जाते अपितु आगे भी चलते रहते हैं।

इस समय बालक में ममत्व की भावना भी जाग्रत हो जाती है और वह अपने भाई-बहन, खिलौने, पैसे, कपड़े आदि पर अपना स्वत्व समझने लगता है और उन्हें किसी दूसरे को नहीं लेने देता। यही कारण है कि वह प्रायः अपने खेल-खिलौनों को छिपाकर रखने लगता है जिससे उन्हें कोई ले न ले और यदि कोई उसके खेल-खिलौने ले लेता है, तो बहुत रोता-पीटता है। माता-पिता को अपने व्यवहार द्वारा अथवा अन्य किसी तरह यह विश्वास दिला देना चाहिये कि उसके खेल-खिलौने कोई न लेगा। इसके अतिरिक्त यदि उसे अपने खेल-खिलौने रखने तथा स्वच्छंदता पूर्वक खेलने-कूदने के लिये एक पृथक क्रीड़ा-स्थान दे दिया जाय तो बड़ा अच्छा है।

४—५ वर्ष से ९ वर्ष तक

४-५ वर्ष की आयु में बच्चा भली भांति चलने-फिरने लगता है और बाहर-भीतर आने-जाने लगता है। अतः उसे प्रौढ़ों के कार्यों को देखने का अधिक अवसर मिलता है। चूंकि बच्चे में अनुकरण की शक्ति बहुत प्रबल होती है, अतः वह अपने खेलों में बड़ों की नकल करना प्रारम्भ कर देता है। इस समय लड़कियों को यदि गुड़िएँ मिल जायं, तो वे उनकी मां बन जाती हैं और उन्हें दूध पिलाती हैं, पुचकारती हैं, उनका प्यार लेती हैं, उन्हें

गीत-लोरियां आदि सुनाकर सुलाती हैं, पालने में झुलाती हैं, उनका विवाह करती हैं और दावत करती हैं। लड़कों को यदि रेल अथवा हवाई जहाज का खिलौना मिल जाय, तो वे तुरन्त ही उसके ड्राइवर बन जाते हैं और फक-फक करके रेल अथवा घर-घर करके जहाज चलाना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार के काल्पनिक खेल तथा नाटक खेलने की प्रवृत्ति प्रायः ५ तथा ७ वर्ष के बीच बहुत प्रबल होती है। ६-७ वर्ष की अवस्था में जब बालक स्कूल तथा बाजार आने-जाने लगता है, तो वह प्रायः घंटों लोहार को भट्टी फूंकते, दूकानदारों को सौदा तोलते, फेरी वालों को सौदा-सुफल बेचते, डाक्टर को रोगी को देखते, मास्टर को पढ़ाते, बाजीगर को तमाशा करते, नट को कला दिखाते, सपेरे को सांप दिखाते, बन्दर वाले को बन्दर और रीछ नचाते, अथवा कारीगर को मकान बनाते, इस लगन के साथ देखता रहता है, मानो कि वह संसार के अनुभवों का ज्ञान अभी ही प्राप्त कर लेगा। इतना ही नहीं, वह घर आने पर उनका अभिनय भी करता है और कभी काठ की तलवार लेकर राम से लड़ता है, तो कभी तीर कमान लेकर रावण का शरीर छेदता है; कभी नकली पिस्तौल लेकर पहरा देता है, तो कभी चोर की भांति पकड़ा जाता है; कभी पुरानी चिट्ठियां अथवा काग़ज लेकर डाक बांटता है, तो कभी पोस्टमास्टर बनकर खत बेचता है; कभी डाक्टर बनकर रोगी को दवा देता है, तो कभी रोगी बनकर कराहता है। इस समय उसे पशु-पक्षियों की कहानियां सुनने में भी अत्यन्त आनन्द

आता है और वह उनको भी अपने खेलों में खेलने की चेष्टा करता है।

लगभग ७ वर्ष की आयु तक बच्चे की कल्पना-शक्ति इतनी प्रबल होती है कि उसको काल्पनिक तथा वास्तविक जगत में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। हम जिसे नकली और झूठ समझते हैं, वह उसे असली और सच समझता है। जिस समय वह डंडे को दोनों टांगों के बीच में दबाकर घोड़ा-घोड़ा खेलता है और उसे कम्मच से मारता हुआ भागता है अथवा पुचकारकर रोकता है, उस समय वह यह भूल जाता है कि वह डंडे से खेल रहा है, असली घोड़े से नहीं। यही कारण है कि कभी-कभी वह यह कहता हुआ पाया जाता है कि 'मेरा घोड़ा आज सब से आगे निकल गया, मेरा घोड़ा गिर गया, मैं घोड़े पर घूमकर आरहा हूं,' इत्यादि। इतना ही नहीं, अपितु कभी-कभी तो यदि कोई उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता है अथवा उसके खेल के कागज-पत्तर, फूल-पत्ते, ईंट-कंकड़, आदि छू लेता है, तो वह लड़ने को तैयार हो जाता है अथवा कमजोर होने पर रोने-चिल्लाने लगता है, अन्दर से मां-बाप-भाई-बहन आदि को बुलाने लगता है। यही कारण है कि कागज अथवा दफ्ती के टुकड़ों से रेल बाबू बनने वाला बालक बिना टिकट दिए जबरदस्ती दरवाजे के अन्दर जाने वाले आदमी अथवा बालक से झगड़ा करने के लिये उतारू हो जाता है। कंकड़ों, पत्थरों, फूटे हुए घड़े के ठीकरों, फूल-पत्तों आदि की दूकान लगाने वाला बालक किसी व्यक्ति के किसी वस्तु को छू अथवा ले लेने पर

चिल्लाकर कहने लगता है, 'अम्मा, अमुक आदमी हमारी दूकान लूटे लिए जाता है।'

इस प्रकार बालक एक काल्पनिक जगत् की सृष्टि करता है, जिसमें वास्तविकता लेश-मात्र भी नहीं होती। बालक के और हमारे काल्पनिक संसार में भेद केवल इतना होता है कि हम वास्तविक तथा काल्पनिक जगत् के भेद को समझते हैं और बालक अपने काल्पनिक जगत् को ही वास्तविक समझ बैठता है। वह अपनी काल्पनिक दुनिया में इतना मग्न हो जाता है कि उसे बाह्य जगत् की तनिक भी सुधि नहीं रहती। हम उसके खेलों को केवल खेल समझते हैं और जो कुछ वह कहता-सुनता है उसे झूठ समझते हैं, परन्तु वह उनको वास्तविक समझता है और उन में सच्चे आनन्द का अनुभव करता है। अतः उसके इस समय के खेल आत्मानन्द तथा आत्म-तुष्टि के लिये होते हैं, दूसरों को दिखाने अथवा प्रसन्न करने के लिए नहीं होते। यही कारण है कि प्रायः हम देखते हैं कि कभी-कभी बालक घंटों अकेला खेलता रहता है और कभी काठ-किवाड़, मिट्टी आदि से मन्दिर-मसजिद आदि बनाता है, कभी रेत में पैर डालकर भाड़ बनाता है, कभी घंटा लेकर ठाकुरों की पूजा करता है और कभी मुंह से सीटी लगाते हुए फक-फक अथवा छिक-छिक करके इधर-उधर भागकर रेल का इंजिन बनने का प्रयत्न करता है।

७ वर्ष के पश्चात् कल्पना की बाढ़ कम हो जाती है और बालकों में आत्म-प्रदर्शन की शक्ति बढ़ने लगती है। आत्म-प्रदर्शन

में अपनी योग्यता तथा व्यक्तित्व दूसरों को दिखाने और उन पर अपना प्रभाव जमाने के लिए अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति नितांत आवश्यक है। अतः एकान्त में खेले जाने वाले काल्पनिक खेलों से उसका मन हटने लगता है और वह घर के बाहर मैदान में जाकर कूद-फांद, दौड़-धूप वाले वैयक्तिक खेल जैसे आंख-मिचौनी, रस्सा-कशी, खो-खो, सिपाही मार कोड़ा, गिल्ली-डंडा, गेंद-बल्ला, कबड्डी, लट्टू नचाना, लंगड़ लड़ाना, पतंग लूटना, गोली खेलना इत्यादि खेल खेलने लगता है। लगभग ८-९ वर्ष की आयु में वह फुटबॉल, क्रिकेट, हॉकी इत्यादि सामूहिक खेल भी खेलने लगता है। परन्तु वह इनको सामूहिक खेलों की भांति नहीं खेलता है अपितु वैयक्तिक खेलों की भांति ही खेलता है, अर्थात् चूंकि अभी उसमें दल के प्रति भावना जाग्रत नहीं होती है, वह तो केवल होड़ा-होड़ी अथवा प्रतिद्वंदिता द्वारा दूसरों पर अपना प्रभाव जमाना भर चाहता है, अतः वह फुटबॉल केवल किक मारने के लिए, क्रिकेट शॉट लगाने के लिए, हॉकी हिट लगाने के लिए खेलता है, दल की हार-जीत के लिए नहीं। खेलते समय उसके मन में अपने दल के हारने-जीतने की चिन्ता नहीं होती, चिन्ता केवल अपना महत्व दिखाने की होती है। यही कारण कि है वह मिलकर खेलने की अपेक्षा विरुद्ध खेलना अधिक अच्छा समझता है। ९ वर्ष की अवस्था समाप्त होने पर उसका जीवन दलबद्ध होने लगता है और खेलते समय उसे आत्म-प्रदर्शन की अपेक्षा अपने दल की हार-जीत का अधिक ध्यान रखना पड़ता

है। अतः उसके खेल सामूहिक तथा दल-बद्ध हो जाते हैं।

सारांश यह है कि ४ से ७ वर्ष तक बालकों में कल्पना-शक्ति अधिक प्रबल होती है और वे एकान्त में अनुकरणात्मक तथा काल्पनिक खेल खेलते हैं, तत्पश्चात लगभग ६ वर्ष तक उनमें आत्म-प्रदर्शन की शक्ति अधिक प्रबल रहती है और वे दूसरों के सम्मुख खुले मैदान में भाग-दौड़ वाले खेल खेलते हैं। अधिकांश माता-पिता काल्पनिक खेलों का महत्व नहीं समझते और उन्हें बेकार-सा समझते हैं। यही कारण है कि कभी कभी जब कि बालक कोई नाटक खेल रहा होता है और अपनी ख़याली दुनिया में इतना मग्न होता है कि माता-पिता के बुलाने पर भी वह उनकी कुछ नहीं सुनता, तो वे उसे मारने-पीटने लगते हैं और पढ़ने-लिखने अथवा घर का अन्य काम धंधा करने के लिए बाध्य करते हैं। यह ठीक नहीं। बालक के लिए काल्पनिक खेलों का वही महत्त्व है, जो हमारे लिए हमारी ख़याली दुनिया का है। जिस प्रकार हम अपनी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति दिवा-स्वप्नों के रूप में हवाई घोड़े पर बैठकर, कल्पना की उड़ान लगाकर कर लेते हैं और अपने मन को शांत कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार बालक भी यद्यपि प्रौढ़ों के से कार्य नहीं कर सकता, तथापि वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति अनुकरणात्मक काल्पनिक खेलों द्वारा करके आत्म-तुष्टि कर लेता है। इसके अतिरिक्त वे इस प्रकार के काल्पनिक खेलों द्वारा वास्तविक जीवन से भी परिचित हो जाते हैं। अतः इस समय माता-पिता तथा शिक्षक को चाहिए कि वे उक्त

प्रकार के काल्पनिक खेलों के लिए आवश्यक साधन जुटायें और ऐसा वातावरण उत्पन्न करें कि बालकों के खेलों में सदैव नवीनता रहे और उनका मन न ऊबे, उन्हें पशु-पक्षियों, परियों आदि की सुन्दर-सुन्दर कहानियां सुनाएं, अभिनयात्मक पाठों का अभिनय कराएं और उनसे विभिन्न पार्ट खिलवाएँ। इससे बालकों की गति, स्फूर्ति तथा रचनात्मक प्रवृत्ति बढ़ती है। प्रायः देखा गया है कि जो बालक इस प्रकार के काल्पनिक खेलों में दक्ष होते हैं, वे भविष्य जीवन के लिए तैयार हो जाते हैं और आगे चलकर बड़े प्रवीण तथा कार्य-कुशल निकलते हैं। यहां एक बात याद रखनी चाहिये कि ७ वर्ष के पश्चात् भी बालक का काल्पनिक जगत् में विचरते रहना और उसे वास्तविक जगत् का ज्ञान न होना ठीक नहीं है। इस प्रवृत्ति के अधिक समय तक चलते रहने से प्रायः बालकों में ख़याली पुलाव पकाने की आदत पड़ जाती है और वे आगे चलकर झूठ बोलना, गप्प उड़ाना, मिथ्या अहंकार करना इत्यादि भी सीख जाते हैं। अतः माता-पिता तथा शिक्षकों को चाहिये कि वे बालकों से बातचीत करके उनकी आंतरिक इच्छाओं का ज्ञान प्राप्त करें और उनके काल्पनिक खेलों के साथ वास्तविक व्यापारों का संमिश्रण करके उन्हें वास्तविकता की ओर संचालित कर दें। यदि किसी प्रकार दिवास्वप्न देखने की आदत पड़ ही जाय, तो उसको साहित्यिक रूप देकर बालक को कहानी, उपन्यास, कविता आदि की ओर प्रवृत्त कर देना चाहिये, जिससे कि वह भविष्य में अच्छा कहानी अथवा उपन्यास-लेखक या कवि

बन सके।

६ से १५ वर्ष तक

लगभग ६ वर्ष की आयु तक अपनी धुन में मस्त रहने और काल्पनिक खेल खेलने की प्रवृत्ति पूर्णतः छूट जाती है। अब लड़कों को स्वांग अथवा नाटक-रचना और लड़कियों को गुड्डे-गुड़िएँ खेलना रुचिकर प्रतीत नहीं होता। १०-१२ वर्ष की आयु में बच्चों में आत्म-प्रदर्शन की शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। अतः इस समय उनमें अनेकों नवीन रुचियां तथा प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। इस आयु में लड़के चकई नचाना, गुलेल चलाना, पतंग उड़ाना, सियार मार डंडा, लंगड़ी टोली, सांप नेवला, गिल्ली डंडा, अंधा-भैंसा, दिल्ली हमारी, गो होम, चिरमिर घोड़ी, कबड्डी अथवा डूडुआ इत्यादि और लड़कियां पचगुट्टे लुका-लुकउअल, ऊंचा-नीचा गिलास, अन्टी, हप्पीमार टीलो, रस्सी कूद, लंगड़ी बत्तख, लूपलाइन छुट्टी इत्यादि खेल खेलते हैं। इस आयु में विभिन्न वस्तुएँ तथा खिलोने बनाने में बच्चों को बड़ा आनन्द आता है और वे लकड़ी के टुकड़ों से मन्दिर, मस्जिद, टूटे हुए घड़े के ठीकरों से गिप्पल, गीली मिट्टी से चक्की-चूल्हा, हाथी-घोड़ा आदि खिलौने, गीले आटे से चूहा, चिड़िया, रूमाल आदि, रेते में पैर डालकर भाड़, कागज़ से दिन-रात पटाका, फूल, टोपी, गुब्बारा तथा, चूड़ी के टुकड़ों से हार, कन्डील आदि और मोतियों से माला, अंगूठी आदि, गुड़िया के गहने इत्यादि बनाया करती हैं। कुछ बालकों में इस समय विभिन्न प्रकार के चित्र, टिकट, कंकड़-पत्थर

पुराने तथा आजकल के अधन्ने तथा छेददार पैसे और पुराने खत इत्यादि जोड़ने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। कोई-कोई बालक फूल-पत्ते तथा कुत्ते-बिल्लो आदि के चित्र भी खींचा करते हैं। इस समय बालकों में गाने या तुकबन्दी करने की रुचि भी उत्पन्न हो जाती है और वे अपनी-अपनी क्रीड़ाओं में विभिन्न प्रकार की तुकबन्दियां किया करते हैं, जैसेः—

(१) आँख मिचौनी अथवा टीलो में चोर छांटने के लिये कहते हैं—

अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बौ, अस्सी नव्वे पूरे सौ
सौ में लगा तागा, चोर निकल के भागा ॥

अथवा

पान फूल पत्ता, गुलाबी लाल कत्था।
कटोरे में की आगी, बुझादे मेरी सागी ॥

अथवा

ऐटी बेटी टेटी टेम, एलस पपड़ी इमली मेम ॥

अथवा

ए बी सी डी, तू कहां गई थी?
माई डियर फादर, मैं खेल रही थी।

(२) चोर से पाती मंगाने के लिये कहते हैं—

आती मार छाती। तुम ले आओ करौंदे की पाती ॥

(३) किसी के दाव न देने पर कहते हैं—

चोर चोरी न दे, कउआ भून भून खाय।

(४) किसी बालक के विवश होकर कोई काम करने पर कहते हैं—

पांडे जी पछतायेंगे, वही चने की खायेंगे।

(५) कबड्डी के खेल में सांस रोकने के लिए कहते हैं--

खेल कबड्डी आला है, बिन मूंछ का बन्दर काला है।

इस आयु में बालक पद्यात्मक पहेलियाँ तथा प्रश्न भी पूछा करते हैं, जैसे—

(अ) पहेलियां:—

(१) हरी हरी जमीन खुरखुरे कांटे।
बताओ तो बताओ नहीं नाक कान काटे॥

(२) टेढ़ी मेढ़ी लकड़ी जिस पर बैठा हाऊ।
बताओ तो बताओ नहीं तुम हो नाऊ॥

(३) मूली का सा कतला दही का सा रंग।
बताओ तो बताओ नहीं चलो हमारे संग॥

(४) पंडितजी की पा लागन और लाला जी की जै।
बारह में से तीस निकल गये आगे बचे कै॥

(५) एक सन्दूक में बारह खाने।
बारह खानों में तीस तीस दाने॥

(आ) प्रश्न:— झटपट उत्तर दो गोपाल,
पूछूं तुमसे आज सवाल।
मुन्नू के क्यों गोरे गाल,
भालू के क्यों इतने बाल ?

चले साँप क्यों तिरछी चाल,
नारंगी क्यों होती लाल ?
घोड़े की क्यों ऐसी चाल,
पहलवान क्यों ठोके ताल ?

इसके अतिरिक्त कभी कभी सादी पहेलियां भी पूछा करते हैं, जैसे— अगर एक आदमी एक आंख से ३ चिड़एँ देखता है, तो बताओ वह दो आंखों से कितनी चिड़एँ देखेगा ? अगर एक आदमी १ गज कपड़ा रोज फाड़ता है, तो वह आठ गज कपड़ा कितने दिन में फाड़ेगा ? 'मेरा नाम मैं' और तेरा नाम 'तू' बताओ मैं पागल कि तू ?' इत्यादि।

कभी-कभी वे तुकबन्दी करके एक दूसरे को बनाया भी करते हैं, जैसे एक बालक दूसरे से कहता है 'कहो, एक' और जब वह कहता है 'एक' तो दूसरा कहता है 'तू खड़ा खड़ा देख।' इसी प्रकार 'दो तू सिर पकड़ के रो' 'तीन, तू बजा बीन' 'चार, त खा चूहे का अचार' 'बीस, तुम हो पूरे खबीस' 'चालिस, तू कर जूते पै पालिस' 'साठ, तेरे सिर पै खाट' 'पानी, तेरी सास कानी अथवा तू कर गैया की सानी' 'आलू मटर सेम, हम साहब तुम मेम' 'आलू-मटर-गोभी, हम साहब तुम धोबी' इत्यादि।

कभी-कभी एक दूसरे को गा-गाकर चिढ़ाया भी करते हैं, जैसे—

(१) किसी बालक के खिसियाकर रोने लगने पर वे कहते हैं—

राइया मुंह धोइया, बिल्ली आई आटा।
श्याम का मुंह चाटा ॥

अथवा

रूठी लड़की कौन मनावे ?
गरज पड़े तो दौड़ी आवे ॥
छिप छिप मुंह दिखलाती है।
मनने को ललचाती है ॥
अरी चमेली अंखियां खोल।
छोड़ रूठना मुंह से बोल ॥
आया है ससुराल का नाई।
लाया तेरे लिए मिठाई ॥
रथ में बैठा बनरा आवे।
तुमको साथ लिवा ले जावे ॥

अथवा

कल्लू मटल्लू बेर खा रहे थे। भंगन की टोकरी में सो रहे थे ॥
भंगल ने लात मारी रो रहे थे। भंगन ने पेड़ा दिया हंस रहे थे ॥

(२) नाम पर तुकबन्दी करके चिढ़ाते हैं:—

राधेश्याम तिलक धारी।
पकड़ चुटइया दे मारी ॥

अथवा

राम नरैना, इमली का टैना।
खुल गई खिड़की, उड़ गई मैना ॥

अथवा

भोला गरी का गोला ।
घंटाघर में टन टन बोला ।
ऊपर से ठोस नीचे से पोला ॥

अथवा

छंगा छः कौड़ी छदाम ।
छंगा मेरा ही गुलाम ॥

अथवा

काने राजा बड़े सिपाई ।
आंख फोड़ बन्दूक चलाई ॥

अथवा

मोटे लाला पिलपिले ।
बहू को लेके गिर पड़े ॥

अथवा

मुन्नी पापड़ मुन्नी, आधा पापड़ कच्चा ।
मुन्नी खाय चिड़ी का बच्चा ॥

अथवा

शान्ति मन मानती, कहना क्यों नहीं मानती ।
पंडित जी पढ़ाने आये, बस्ता क्यों नहीं बांधती ॥

इसके अतिरिक्त कभी-कभी वे बालकों के नाम भी रखा करते हैं, जैसे दुबले-पतले लड़के को सींकिया पहलवान, दुर्बल को हत्याहरन, काने को कनऊ राजा, लम्बे को ऊंट, मोटे को कचौड़ीमल,

गप्पू गोली, मोटी भैंस, भोंदूराम आदि कहा करते हैं। इसी प्रकार वे छुटंकी, लपाको, छिपकली, गिरगिट और भी अनेकों नाम रखा करते हैं। नाम रखने में तो वे उस्तादों तक को नहीं छोड़ते और किसी को मेंढक, किसी को बाबा, किसी को भैंसा, किसी को कामवढई, किसी को लकड़बग्घा, किसी को कालिया मसान, किसी को कुल्हड़ इत्यादि कहा करते हैं।

१२ वां वर्ष समाप्त होते-होते बालक का मन उक्त बातों से भी हटने लगता है। इस समय उसके जीवन में एक नवीन परिवर्तन होता है। अब वह अकेला नहीं रह सकता, किसी न किसी दल का सदस्य होकर रहना चाहता है। अब उसको अपनी उतनी चिंता नहीं होती जितनी अपने दल की होती है। उसकी टीम हारे या जीते, परन्तु उसकी प्रशंसा हो यह बात जाती रहती है। अब तो प्रत्येक समय यह चिंता लगी रहती है कि जिस तरह भी हो उसकी टीम जीते और नाम पैदा करे। अब वह फुटबॉल किक लगाने के लिए, वालीबॉल सर्विस करने के लिए, क्रिकेट शॉट लगाने के लिए और हॉकी हिट लगाने के लिए नहीं खेलता; अपितु अपनी टीम की जीत के लिए खेलता है। अतः वह वैयक्तिक अर्थात् अकेले खेले जाने वाले खेल नहीं खेलता, अपितु सामूहिक अर्थात् टीम या गुट में खेले जाने वाले खेल जैसे फुटबॉल, क्रिकेट, बास्केटबॉल, हॉकी इत्यादि खेलता है और यदि खिलाड़ी कम होते हैं, तो वालीबॉल, बैडमिंटन, डेकटैनिस, इत्यादि खेल खेलता है। यदि वह कभी अकेला रह जाता है, तो अपना अलग एक

छोटा-सा गुट बना लेता है। इतना ही नहीं अपितु वह अपने खेलों के लिए अच्छा-सा मैदान खोजने के लिए दूर-दूर तक जाया करता है। अतः इस समय बालकों में घूमने की रुचि भी उत्पन्न हो जाती है। साथ ही साथ चूंकि वे अपने को अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य समझने लगते हैं और उनको घर या स्कूल के बन्धन में रहना अच्छा नहीं लगता, अतः उनका मन सदैव यह चाहा करता है कि वे घर से चल दें और मन भरकर भ्रमण करें। यही कारण है कि इस आयु में प्रायः बालक घर से भाग जाते हैं। इसी कारण उनको स्काउटिंग में रहना और छुट्टी के दिन अपने संगी-साथियों को जोड़ बटोरकर पिकनिक के लिए निकल जाना भी रुचिकर प्रतीत होता है। पिकनिक पर जाने के लिए साइकिल पर चढ़ने की भी आवश्यकता होती है। अतः वे साइकिल पर चढ़ना भी सीख जाते हैं और नया-नया शौक होने के कारण दिन भर साइकिल पर चढ़े-चढ़े घूमा करते हैं। १२-१३ वर्ष की आयु में पिकनिक, फुटबॉल, क्रिकेट, हॉकी आदि कठिन खेलों से थकने पर वे ऐसे खेल खेलते हैं जिनमें थकान भी न हो और मनोरंजन भी होजाय, जैसे लूडो, स्नेक एण्ड दी लैडर, कैरम, बीस बग्गी चार बाग, डमरू, ताश इत्यादि।

११-१२ वर्ष के बाद बालक लिंग-भेद को समझने लगते हैं और लड़कों में बड़प्पन अथवा अभिमान और लड़कियों में संकोच अथवा लजीलापन आने लगता है। अतः लड़कों को लड़कियों के साथ खेलने में तुच्छता और लड़कियों को लड़कों के साथ खेलने

में लज्जा प्रतीत होने लगती है। वे अपने भेद परस्पर एक दूसरे से गुप्त रखते हैं। अतः वे अपना अलग गुट बनाते हैं, लड़के लड़कों के और लड़कियां लड़कियों के। इन दलों में एक बालक लीडर अर्थात नेता होता है और शेष सब उसकी आज्ञानुसार चलते हैं।

लगभग १४ वर्ष तक ये सब खेल, रुचियां तथा प्रवृत्तियां प्रबल रहती हैं, परन्तु १५ वां वर्ष लगते ही पुनः एक परिवर्तन होता है। अब बालक यह समझने लगता है कि वह बड़ा होगया है और उसे छोटे बच्चों में खेलना रुचिकर प्रतीत नहीं होता। अब वह बच्चों की भांति अनियमित रूप से खेलना नहीं चाहता, अपितु प्रौढ़ों के साथ नियमानुसार खेलना और क्लब में बैठना-उठना चाहता है। अतः स्काउटिंग से उसका मन हटने लगता है। बड़ी टीमों में हॉकी, बास्केटबॉल, क्रिकेट, फुटबॉल, आदि खेलना भी अच्छा लगता है, परन्तु बच्चों की छोटी टीमों में नहीं। लड़कियों को भी इस आयु में छोटी लड़कियों के साथ पच-गुट्टे, अष्टचन्दा या आंखमिचौनी खेलना अच्छा नहीं लगता, अपितु घर का काम-धंधा, सीना-पिरोना, काढ़ना-कूढ़ना, आदि अच्छा लगता है। चूंकि इस समय शरीर में शक्ति अधिक होती है, अतः कुछ लड़कों में अखाड़ेबाजी की रुचि भी उत्पन्न हो जाती है।

सारांश यह है कि १०-१२ वर्ष की आयु में बच्चों में विभिन्न प्रकार के खेल-खिलौने बनाने, वस्तुएँ एकत्रित करने, तुकबन्दी

करने, पहेलियां बुझाने, और दूसरों को बनाने, चिढ़ाने तथा नाम रखने की प्रवृत्तियां विशेष रूप से पाई जाती हैं। बालकों की इन नैसर्गिक प्रवृत्तियों का हमें उचित उपयोग करना चाहिए और उन्हें उन्नत करना चाहिए, कारण कि इनसे आगे चलकर जीवन में बड़ी सहायता मिलती है। खेल-खिलौने बनाने की प्रवृत्ति को हम, बालकों से कागज के छीके, कंडील, नाव, जहाज, जंजीर, कमरख, फिरकी, वेदरकॉक, बेल आदि; दियासलाई की डिब्बियों की गाड़ी, रेल, घर आदि; सिगरेट की डिब्बियों के हार; वेल, मनीबेग आदि, लकड़ी के डिब्बे, रूल, फिटे, कलमदान आदि, चूड़ी के टुकड़ों से दूरबीन; शीशे की नलियों और मोतियों से झाड़, फानूस; दफ्ती से घर, रेल, नाव आदि; सीपियों से तसवीरें; रुई से कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं के चित्र; और सीकों अथवा तीलियों से पंखे; नलकों से पपय्ये और रंग की पेंसिलों से भांति भाँति की ड्राइंग बनवाकर; बाग में पेड़-पौधे लगवाकर और लड़कियों से भाँति भाँति की वस्तुएँ कढ़वाकर, उन्नत कर सकते हैं। वस्तुएं एकत्रित करने की प्रवृत्ति द्वारा हम बालकों से पुराने टिकट, फूल-पत्तियाँ, पंख, चित्र, कवितायें इत्यादि इकत्रित कराकर लाभ उठा सकते हैं। ऐसा करने से बालकों की ज्योग्रफी, हिस्ट्री, नेचर-स्टडी इत्यादि में ज्ञान-वृद्धि होती है। पहेलियां बुझाने की प्रवृत्ति से गणित के प्रश्नों में बड़ी सहायता मिलती है। यों शुष्क प्रश्नों में बालकों का मन नहीं लगता, परन्तु जब वे पहेली के रूप में उनके सामने आते हैं, तो बड़े रुचिकर प्रतीत होते हैं। पहेलियों का

भाषा तथा साहित्य में भी विशेष महत्व है, परन्तु वे भाषा सम्बन्धी होनी चाहियें, जैसे:—

चार अक्षर का मेरा नाम।
पढ़ने में मैं आता काम॥
रोज सभी को खबर सुनाता।
लोगों का मैं जी बहलाता॥

आक्षरिक अथवा वर्णात्मक, गुप्त, विचारात्मक, उल्टबासियां, गणनात्मक, साहित्यिक, इत्यादि अनेक प्रकार की पहेलियां इसी के अन्तर्गत हैं (देखो लेखक की पुस्तक, 'बुद्धि-परीक्षा,' प्रथम भाग) इसके अतिरिक्त हम उनको भांति भांति के गुर, अलंकार, कठिन नाम इत्यादि भी कविता में बांधकर सरलता से स्मरण करा सकते हैं। बालकों को गाना सिखाने का भी यही समय है। लगभग १२ वर्ष की आयु में बालक दलबद्ध होकर गुट बनाने लगते हैं। इस समय उनकी सोसाइटी की ओर ध्यान रखना चाहिए, कारण कि इस आयु में प्रायः बालक कुसंग में पड़कर द्यूतक्रीड़ा आदि करने लगते हैं। इस दलबद्धता की प्रवृत्ति द्वारा उनको किसी दल अथवा क्लब का सदस्य बनाकर उनसे मेले-ठेलों में समाज-सेवा आदि अच्छे-अच्छे कार्य कराये जा सकते हैं। इन दलों के विषय में यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि १३-१४ वर्ष के पश्चात् किसी भी दल में बालक तथा बालिकायें दोनों एक साथ न होने चाहिएं, अन्यथा प्रेम-घटनायें हो जाने का डर है। १५ वर्ष की आयु में बालकों में यौवन की नवीन उमंग होती है, अतः उन्हें

लाठी चलाना, गदका खेलना, मुग्दर घुमाना, कुश्ती लड़ना, तैरना आदि सिखाने चाहिएं और पुटिंग दी वेट (Putting the weight) डिस्कस थ्रो (Discus throw) लम्बी दौड़, ऊंची कूद आदि खेल खिलाने चाहिएं। १५-१६ वर्ष के पश्चात बालक अपने को बड़ा समझने लगते हैं और उन्हें बच्चों की भांति खेलना-कूदना अच्छा नहीं लगता। लड़कियां भी इस समय विवाहित हो-कर घर-बार की हो जाती हैं। लड़के भी अपना उत्तरदायित्व समझने लगते हैं।

१०

झूठ बोलना

वास्तव में झूठ कोई अपराध नहीं है, अपितु किसी अपराध को छिपाने के लिए काम में लाया जाता है। झूठ प्रत्येक आदमी नहीं बोलता। झूठ केवल वही आदमी बोलते हैं जिनकी कल्पना-शक्ति प्रबल होती है और साथ ही साथ जिनकी जुबान में भी तेजी होती है। अर्थात जिनकी जुबान से शब्द बहुत सरलता तथा स्फूर्ति के साथ निकलते हैं।

चूंकि झूठ विविध अपराधों के छिपाने में सहायक होता है, अतः उसके बोलने का कारण भी सदैव एक ही नहीं होता। झूठ अनेक कारणों से बोला जाता है और तदनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। साधारणतः झूठ निम्न प्रकार के होते हैं—

(१) खेल का झूठ— प्रायः ३ से ५ साल की उमर तक बालक अनेक प्रकार के काल्पनिक खेल खेला करते हैं। कभी एक छोटे से डण्डे को दोनों जांघों के बीच में दबाकर घोड़े पर सवारी करते हैं और कभी उसी छड़ी से कुर्सी रूपी घोड़े को मार-मारकर कचूमर निकालते हैं, कभी वे कहते हैं कि 'आज हमारा घोड़ा गिर गया।' हम लोगों को यह सब झूठ मालूम होता है, लेकिन वास्तव में बात यह है कि बच्चों की कल्पना-शक्ति बहुत प्रबल होती है और वे वास्तविक दुनिया से अलग अपनी एक काल्पनिक

दुनिया में रहते हैं। जिस प्रकार हम इस दुनिया में पूर्ण न होने वाली इच्छाओं को दिवा-स्वप्न के रूप में पूर्ण करते हैं, ठीक उसी प्रकार बच्चे अपनी वास्तविक दुनिया में पूर्ण न होने वाली इच्छाओं को काल्पनिक क्रीड़ाओं द्वारा पूर्ण करते हैं। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। मान लो कोई ग़रीब आदमी हिन्दुस्तान का बादशाह होना चाहता है, तो वह वास्तविक जीवन में इस पद पर नहीं पहुंच सकता, लेकिन दिवा-स्वप्न के रूप में हिन्दुस्तान का ही नहीं अपितु दुनिया भर का बादशाह बन सकता है। इसी प्रकार यदि बालक डाक्टर बनकर रोगी को देखना, हलवाई बनकर दूकान लगाना, दही आदि बेचना चाहता है, तो अपने काल्पनिक खेलों द्वारा सरलता से रोगी को दवा दे सकता है, कंकड़-पत्थर द्वारा मिठाई बेच सकता है और किसी भी वस्तु को सिर पर रखकर दही बेच सकता है। छोटे बच्चों को इस प्रकार के खेलों तथा झूठ में प्रोत्साहन देना चाहिए, जिससे उनकी अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति और कल्पना-शक्ति का पूर्ण विकास हो सके।

वे झूठ भी जो हंसी-मज़ाक में बोले जाते हैं, इसी प्रकार के झूठ के अन्तर्गत हैं। ये झूठ केवल खेल या हंसी-दिल्लगी भर के लिए होते हैं और थोड़ा देर बाद हंसी-दिल्लगी समाप्त होते ही प्रकट हो जाते हैं और मान लिए जाते हैं।

(२) छोटे बच्चों का नासमझी का झूठ—छोटे बच्चे सत्य और कल्पना के भेद को नहीं समझते। उन पर आदेश

(Suggestion) का प्रभाव भी शीघ्र पड़ता है और वे दूसरों के कहने में बड़ी जल्दी आजाते हैं, जो दूसरे कहते हैं वे उसे सत्य समझ लेते हैं। फल यह होता है कि वे वास्तविक सत्य अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभवों को अपने काल्पनिक सत्य अर्थात् सोची हुई बातों तथा दूसरों द्वारा कही हुई बातों के साथ गड़बड़ करके मिला देते हैं। प्रायः ऐसा होता है कि जब वे किसी बात को भूल जाते हैं अथवा उन्हें ज्ञान नहीं होता है और आप उनसे उसके विषय में पूछें, तो कोई फबता हुआ उत्तर दे देते हैं; लेकिन इसके मानी यह नहीं है कि वे आपको धोखा देना चाहते हैं अथवा आपसे झूठ बोलते हैं। वास्तव में बात यह है कि उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं होता कि वे झूठ बोल रहे हैं, कारण कि वे सत्य और कल्पना में भेद न कर पाने के कारण उसी को सत्य समझते हैं। प्रायः वे बच्चे जो बड़े संकोची होते हैं, बोलने में घबरा जाते हैं और कुछ का कुछ कह जाते हैं। ऐसी दशा में यदि उन पर झूठ का दोष लगाया जायगा, तो वे घबराकर और भी अधिक गड़बड़ा जायेंगे। अतः बच्चों के इस प्रकार के काल्पनिक तथा आकस्मिक असत्यों तथा विचारों को क्षम्य समझना चाहिए और ऐसे अवसर पर वास्तविक सत्य की खोज करके उनके साथ बर्ताव करना चाहिए।

(३) शेखी मारना—बहुत से बच्चों में आत्म-प्रदर्शन अर्थात् अपने को दिखाने की आदत होती है और वे अपनी बातों से दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, अतः वे प्रत्येक

बात को बहुत कुछ घटा-बढ़ाकर और रँगकर कहते हैं। यद्यपि उनका अभिप्राय झूठ बोलने का नहीं होता, वे केवल अपनी बात को सजाकर और उसमें नमक-मिर्च मिलाकर कहना चाहते हैं। अतः उनकी बातों में कुछ मात्रा में झूठ सदैव मिला रहता है। इस प्रकार के बच्चे प्रायः बड़ाई की डींगें मारा करते हैं और अपने विषय में अनेकों मनोरंजक कहानियां सुनाया करते हैं। वे प्रायः दिवा-स्वप्न देखा करते हैं और बहुत बहमी हो जाते हैं। उन्हें प्रायः यह बहम रहता है कि प्रत्येक आदमी उनका शत्रु है और उनके विरुद्ध षडयन्त्र रच रहा है, अतः वे झूठी-सच्ची व्यर्थ की शिकायतें भी किया करते हैं। जो बच्चे यह चाहते हैं कि सब का ध्यान उनकी ओर आकर्षित रहे, आगे चलकर प्रायः न्यूरॉटिक (Neurotic) हो जाते हैं और तनिक-सी बात में घबड़ा और गड़बड़ा जाते हैं और उनको हिस्टीरिया (Hysteria) के दौरे पड़ने लगते हैं।

(४) द्वेषपूर्ण झूठ—कुछ बालक दूसरों को नीचा दिखाने अथवा उनसे बदला लेने के लिए झूठ बोला करते हैं। इस प्रकार का झूठ प्रायः उन्हीं बालकों के साथ बोला जाता है जिनसे हमारा अत्यन्त निकट का अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यदि किसी कारण से एक बालक दूसरे से मन ही मन जलने लगता है, तो वह प्रायः उस पर विविध दोष लगाया करता है। इस प्रकार के बालक शत्रुता अथवा द्वेष के कारण घृणित से घृणित दोष लगाने तक से नहीं चूकते।

(५) बहानेबाजी—जब बालक कोई अपराध अथवा कोई ऐसा कार्य करता है जिसमें उस पर दोष लगे अथवा वह दिया हुआ काम नहीं कर पाता है या नहीं करना चाहता है, तो वह बहानेबाजी और टालमटूल करता है अर्थात् जानबूझकर भूठ बोलता है। इस प्रकार के भूठ प्रायः वचन पूर्ति न करने अथवा मुकर जाने का रूप धारण करते हैं। वे बालक जो चोरी तथा अन्य प्रकार के अपराध करने के आदी हो जाते हैं, प्रायः अपने अपराधों को छिपाने के लिए इस प्रकार के भूठ बोला करते हैं। कभी-कभी स्कूल आदि में देर से पहुंचने पर, काम करना भूल जाने पर अथवा कोई हानि आदि कर देने पर भी वे मुकर जाया करते हैं, अपना दोष दूसरों पर लगाया करते हैं और इस प्रकार के अनेकों भूठ बोला करते हैं। ऐसे बालक प्रायः डर के मारे अपने दोषों तथा अपराधों को छिपाना चाहते हैं, अतः वे मुकर जाते हैं अथवा दूसरों को अपराधी बना देते हैं। मेरा निजी अनुभव है कि शीशा आदि किसी चीज़ के तोड़ डालने, किताब फाड़ डालने, कापी में उल्टी-सीधी लकीरें खींच डालने पर प्रायः बच्चे पूछने पर साफ मुकर जाते हैं। वे प्रायः कहते हैं, "बाबू, मैंने नहीं तोड़ा है, श्याम (अन्य भाई-बहन आदि) ने तोड़ा है" या "बाबू, मैंने नहीं तोड़ा है आप ही गिर पड़ा था।"

(६) स्वार्थवश भूठ बोलना—कभी-कभी बालक निकट भविष्य में कोई लाभ अथवा आनन्द उठाने के लिए भी भूठ बोला करते हैं। खेल में बालकों का भूठ बोलना और बेईमानी

करना, पढ़ने में पाठ आदि याद न करने या घर का काम करके न लाने पर बहानेबाजी करना साधारण सी बात है। कभी-कभी बालक कोई ऐसा कार्य, जिसे मां, बाप, अध्यापक आदि बड़े व्यक्ति ठीक न समझते हों, करने के लिये भी झूठ बोला करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि बालक को सिनेमा जाना है या वह मिठाई खाना चाहता है और साथ ही साथ यह भी जानता है कि मां उसे इस काम के लिए पैसे नहीं देगी और डांटेगी, तो वह पड़ोसिन के यहां जाता है और कहता है, 'अम्मा ने एक चवन्नी मांगी है, तरकारी वाले को देनी है, शाम को बाबूजी आयेंगे, तो दे देंगी।' बस इस प्रकार वह चार आने पैसे मार लेता है और सिनेमा चल देता है। कभी-कभी जब बालक घर की कोई चीज लेने जाते हैं, तो वे पैसों की मिठाई आदि खा आते हैं और घर पर आकर कह देते हैं कि पैसे कहीं गिर गये। फकीर लोग प्रायः इस प्रकार की असत्यपूर्ण कहानियाँ रचकर भीख मांगा करते हैं। कोई कहता है, 'मुझे लड़की की शादी करनी है,' कोई कहता है 'मेरा घर बढ़िया में बह गया' इत्यादि। इस प्रकार के बालक कहानियाँ गढ़ने में तेज होते हैं। कभी-कभी लोग अपने अफसरों को खुश करने के लिये भी उनकी झूठी प्रशंसा और चापलूसी किया करते हैं। डेमोक्लीज़ (Democles) का अपने बादशाह की खुशामद और झूठी प्रशंसा करना प्रसिद्ध ही है।

(७) आलस्यवश झूठ—कभी कभी जब बालक अपने खेल में मस्त होता है, उस समय यदि उससे कोई प्रश्न पूछा जाता है, तो

वह साफ मुकर जाता है, 'मुझे नहीं मालूम' । उदाहरणार्थ, यदि आप बालक से पूछें 'क्या तुम्हारे बाबू घर पर हैं ?' तो वह चट से कह देता है 'मुझे नहीं मालूम।' इसके यह मानी नहीं हैं कि वास्तव में बच्चे को मालूम नहीं है, वह जानता अवश्य है, परन्तु वह बताने का आलस्य करता है, उसे बताने की फुरसत नहीं है, वह समझता है यह मेरे खेल में दखल देने वाले कौन होते हैं ? इन्हें मुझसे पूछने का क्या अधिकार है ? अतः वह टाल देता है। ऐसा प्रायः हम लोग भी जब काम में अधिक घिरे होते हैं तो करते हैं और किसी के कोई बात पूछने पर जान-बूझकर 'मुझे नहीं मालूम या मैं नहीं जानता' आदि कहकर टाल देते हैं।

(८) झूठ का रोग अर्थात् अकारण झूठ—हिस्टीरिया, कोरिया, मिर्गी, बहम आदि कुछ मानसिक रोगों में प्रायः मनुष्य अकारण ही झूठ बोला करते हैं । इस प्रकार के झूठ की मुख्य पहचान यह है कि वे प्रायः महीनों और कभी-कभी वर्षों तक चला करते हैं। इस प्रकार के बालकों के निबन्धों में भूल-चूक सम्बन्धी अशुद्धियां अधिक होती हैं और वे प्रत्यक्ष अनुभव शून्य होते हैं अर्थात उनसे स्पष्टतः मालूम होता है कि बालक बहुत भुलक्कड़ है और उसकी अवलोकन शक्ति बहुत निर्बल है। इस प्रकार के बालक दूसरों के कहने में बड़ी जल्दी आजाते हैं और उनके द्वारा दी हुई सूचनाएं विश्वसनीय नहीं होतीं। इस प्रकार के बालक प्रायः गुमनाम चिट्ठयां भेजा करते हैं और अपने सम्बन्धियों पर अनेक प्रकार के झूठे दोष लगाया करते हैं। ये दोष प्रायः काम-सम्बन्धी

होते हैं। उदाहरणार्थ, एक बार एक अविवाहित युवती ने पुलिस में रिपोर्ट की कि अमुक युवक मेरे पीछे लगा है और मुझे भगा ले जाना चाहता है। बाद में जांच करने पर मालूम हुआ कि वह सब झूठ था और वह हिस्टीरिया की रोगिणी थी। इस प्रकार की अनेकों घटनाएं दिन-रात देखने में आती हैं।

झूठ का इलाज—झूठ का इलाज करने के पहले हमें यह तै कर लेना चाहिए कि बालक किसी कारण से झूठ बोलता है अथवा अकारण, बोलने वाले ने पहली बार झूठ बोला है अथवा वह झूठ बोलने का आदी होचुका है। अतः उसकी डाक्टरी परीक्षा करके यह निर्णय करना आवश्यक है कि उसको हिस्टीरिया, मिर्गी, कोरिया, वहम, सनक आदि कोई मानसिक रोग तो नहीं है और वह झूठ बोलने की आदत में किस हद तक पहुंचा है और कौन से ऐब अथवा अपराध को छिपाने के लिये झूठ बोला गया है। यह याद रखना चाहिए कि सब बालक एक ही कारण से झूठ नहीं बोलते हैं। अतः जैसा कारण हो वैसा ही इलाज करना चाहिए। झूठ की आदत छुड़ाने के लिये निम्न लिखित उपाय करने चाहिएं :—

झूठ छुड़ाने के उपाय—(१) झूठ का ही नहीं प्रत्येक बुरी आदत का यह नियम है कि झूठ बोलने, धोका देने, चोरी करने, घर से भागने आदि किसी भी बुरे काम के करने में पहली बार मनुष्य बहुत हिचकिचाता है, परन्तु यदि वह पहली बार किसी प्रकार सफल हो जाता है, तो फिर आगे के लिये बड़ी आसानी होजाती है और वह उसे बार-बार करता है। अतः झूठ को प्रथम बार में

ही पकड़ लेना चाहिये और झूठ बोलने वाले को यथा सम्भव झूठ बोलने का अवसर न देना चाहिये।

(२) झूठ की खोज तथा निर्णय करने के लिये झूठ बोलने वाले से कभी भूलकर भी प्रश्न न करना चाहिए, अन्यथा वह और झूठ ही बोलेगा। अतः पहले सब प्रकार के प्रमाण इकट्ठे करके, झूठे का झुका हुआ सिर, हकलाना, झिझकना, आंख चुराना आदि देखकर यह तै कर लेना चाहिए कि बालक ने झूठ बोला है, बालक के मन में यह विचार नहीं आना चाहिए कि आपको पूर्णतः निश्चय नहीं है; इसके विरुद्ध उसके मन में यह सन्देह तथा डर होना चाहिए कि कहीं आप उसका झूठ समझ न गये हों और मन ही मन उसकी मूर्खता पर हंस रहे हों। यदि ठीक प्रकार निर्णय न हो सके. तो जो कुछ झूठा कहे उसे सच समझें और उसे झूठ बोलने पर लज्जित करें। कारण कि यदि झूठे को यह मालूम हो जायगा कि आप में इतनी बुद्धि नहीं है कि झूठ समझ सकें, तो उसका साहस बढ़ जाता है और वह झूठ बोलने का आदी होजाता है।

(३) यदि बालक सब के सामने अथवा उनके सामने जिनसे उसने झूठ बोला है अपना झूठ स्वीकार कर ले, तो उसे किसी प्रकार का दण्ड न देना चाहिए। प्रायः हम लोग बच्चों को सच-सच बताने पर विवश किया करते हैं, यह ठीक नहीं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि बालक किसी अपराध को छिपाने के लिये झूठ बोला करता है, अतः यदि उसे सच-सच बताने के लिये विवश किया जाता है, तो वह प्रायः झूठे-सच्चे बहाने गढ़कर

धोखा दे दिया करता है और यदि वह एक बार बात बनाने और धोखा देने में सफल हो जाता है, तो फिर धोखा देने का आदी होजाता है। अतः 'सच-सच बताओ तुमने ऐसा किया या नहीं ?' जैसे प्रश्न कभी न करने चाहिए, अपितु उससे धीरज से काम लेना चाहिए और तरकीब से पूछना चहिए। उससे कहना चहिए कि 'हम तुम आपस में मित्र हैं और मित्र एक दूसरे से किसी प्रकार का छिपाव नहीं रखते हैं। मैं तुमको विवश नहीं करता हूं, यदि तुम न बताना चाहते हो तो न बताओ, परन्तु इससे आपस में भेद पड़ जाता है। हां, इतना मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि माताजी, पिताजी अथवा अन्य किसी भी मित्र से मैं नहीं कहूंगा।'

झूठ मनवाने अर्थात् झूठ की स्वीकृति कराने में अधिक देर न करनी चाहिये, कारण कि सम्भव है कि वह आपके पूछने के पहले किसी के सामने मुकर जाय और फिर आपके पूछने पर झूठा बनने के डर से आपसे भी झूठ बोल जाय।

(४) मेरा यह निजी अनुभव है कि यदि बालक से कोई अपराध हो जाता है, तो वह पिता के सामने तो झूठ बोल जाता है, परन्तु माता को सब बात सच-सच बता देता है। इसका कारण यह है कि वह पिता से डरता है, परन्तु माता को श्रद्धा, आदर तथा प्रेम की दृष्टि से देखता है। इसी प्रकार बालक उन मास्टरों से झूठ नहीं बोलता जो उसके साथ दया का बर्ताव करते हैं और उससे सहानुभूति रखते हैं। उनकी दया, सहानुभूति तथा प्रेम के द्वारा उसके ऊपर एक प्रकार का अहसान-सा हो जाता है, जिसके

बदले में बालक उनसे झूठ बोलना उचित नहीं समझता। यही कारण पक्के मित्रों से सच-सच बता देने का भी है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि दया, सहानुभूति तथा प्रेम के द्वारा हम बालक में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करें। किसी न किसी प्रकार विश्वास दिलाकर प्रायः लोग पक्के चोरों और बड़े-बड़े झूठों तक से सच्ची बात पूछ लेते हैं और असली भेद ले लेते हैं। अतः उन लोगों को, जिनको बालक घृणा, डर तथा अविश्वास की दृष्टि से देखता हो, बालक से कभी पूछ-ताछ न करनी चाहिये, अन्यथा वह उनको झूठी-सच्ची बातें गढ़कर धोखा दे देगा। सच-सच बात कभी नहीं बतायगा।

(५) प्रायः लोग झूठ बोलने पर बालकों को मारा-कूटा करते हैं, यह ठीक नहीं। इससे बालक बेहया होजाता है। यदि दण्ड देना ही है, तो सब से बड़ा दण्ड यह है कि बालक पर उस समय तक किसी बात का विश्वास न करे, उसको कोई उत्तरदायित्व का काम न दे, उससे साधारणतः पूर्ववत बातचीत न करे, जब तक कि वह अपने को सच्चा और योग्य सिद्ध न कर दे।

(६) जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि झूठ बोलने वालों में कल्पना-शक्ति अधिक प्रबल होती है। जिन बालकों में उत्पादन-कल्पना (Inventive imagination) अधिक प्रबल होती है, वे प्रायः मनोरंजक क़िस्से-कहानियां बहुत गढ़ा करते हैं, ऐसे बालकों का मज़ाक उड़ाना अथवा उनकी प्रशंसा करना ठीक नहीं। उनको कभी कक्षा के सामने कहानी कहने का अवसर न देना

चाहिये और उनकी कहानियों को उदासीन भाव से देखना चाहिये अन्यथा उनकी कल्पना-शक्ति अत्यधिक प्रबल हो जायगी और वे पक्के झूठे होजायेंगे। इस प्रकार की झूठी-सच्ची, मन-गढ़न्त बातें करने का मुख्य कारण बालक के जीवन का संकुचित होना और उसमें उत्साह न होना है, अतः इस बात की आवश्यकता है कि उसके अनुभवों को बढ़ाया जाय, उसे बाह्य-जगत का ज्ञान कराया जाय। उसको यात्रा (tour) आदि पर ले जाया जाय और मनोरंजक दृश्य दिखाये जायं जिससे वह सच्ची, वास्तविक और जीवनपूर्ण कहानियां तथा बातें कह सके। इसके अतिरिक्त बड़े बच्चों को सुन्दर कहानियां, कविताएं आदि भी पढ़ने को दी जा सकती हैं। ऐसे बालकों को सिनेमा दिखाना और परियों की कहानी सुनाना बड़ी भारी भूल है। इतना ही नहीं, अपितु उन्हें बच्चों की उत्पत्ति तथा माता-पिता के काम-धंधे आदि के विषय में भी स्पष्टतया पूर्णरूप से बताना ठीक नहीं, परन्तु इसके यह माने नहीं हैं कि उनके इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर न देकर अथवा झूठी-सच्ची बातों में बहकाकर उनकी जिज्ञासा-शक्ति नष्ट कर देनी चाहिये, उनके प्रश्नों का उत्तर अवश्य देना चाहिये, परन्तु वह नग्न सत्य न होना चाहिये और बहुत ही नपी-तुली भाषा में होना चाहिये।

११

चोरी करना

चोरी—चोरी करने में मनुष्य दूसरों की वस्तुओं पर छिपकर अधिकार कर लेता है। किसी वस्तु को पाना अथवा उस पर अधिकार करना (acquisitiveness) एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है। इसके तीन अङ्ग हैं—पाना, छिपाना और इकट्ठा करना। प्राप्त करने के लिये ईश्वर ने प्रत्येक प्राणी को एक अस्त्र दिया है, उदाहरणार्थ गिलहरी अपने अगले पैर से, बाज अपने पंख से और बन्दर अपने हाथ से किसी वस्तु पर अधिकार करता अथवा पकड़ता है। निम्न श्रेणी के जानवर जैसे चौपाए और चिड़िएं भूख लगने पर अपने मुंह अथवा चोंच से किसी वस्तु को पकड़ते हैं। मनुष्य जाति के जीव भी अपने हाथ से ही चीजें पकड़ते हैं। एक छोटा-सा बच्चा भी चमकीली अथवा रंगीन वस्तु देखकर तुरन्त उसे अपनी अंगुलियों से पकड़ लेता है। अधिकार प्राप्त करने अथवा पाने में एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है। इस आनन्द को अधिक देर तक उठाने के लिये अथवा भविष्य में उपयोग करने के लिये प्राणी उस वस्तु को आगे काम में लाने के लिये छिपाकर रख देता है और यथा-शक्ति उसे छिपा रखता है

और प्रयोग में नहीं लाता है। उदाहरणार्थ गिलहरी सुपारी को कुतरने के बदले उसे छिपाकर रख देती है, कुत्ता अधचबी हड्डी को कल के लिये रख देता है, बहुत से मनुष्य, विशेषकर स्त्रियां, रुपये-पैसे को कलेजे से लगा लगाकर रखते हैं और बड़ी मुश्किल से खर्च करते हैं। किसी वस्तु को आगे के लिये रखने के लिये उसको सुरक्षित स्थान में रखना आवश्यक है। अतः अधिकार-प्राप्ति के साथ उस वस्तु को आगे के लिये रखने और छिपाने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। किसी वस्तु के पाने तथा छिपाकर आगे के लिये रखने में जो आनन्द आता है, उसे यदि प्राणी एक बार उठा लेता है, तो वह उसे केवल देर तक स्थिर ही नहीं रखना चाहता, अपितु बारबार उठाना भी चाहता है। अतः किसी वस्तु को पाने और छिपाने की प्रवृत्ति के साथ-साथ उसके इकट्ठा करने से उसके इकट्ठा करने की आदत पड़ जाती है और धीरे-धीरे उसके मन में उसके प्रति स्थाई प्रेम (Sentiment) उत्पन्न हो जाता है और अन्त में इकट्ठा करने वाले की दशा एक कंजूस की सी हो जाती है। वह न खाता है,न खर्चता है, बस देख-देखकर ही प्रसन्न रहता है। साइलस मार्नर (Silas marner) की तरह वह उसे बार बार उठाता-धरता है और आंखें तृप्त करता है। यौवनोद्गम-काल में प्रायः बच्चे टिकट, सिगरेट की डिब्बिएं दियासलाई की डिब्बिएं, तस्वीरें, पंख-पत्तियां आदि इकट्ठा किया करते हैं। ये इस अवस्था के मुख्य शौक हैं। चोरी अधिकार की प्रवृत्ति का ही अनुचित विकास, प्रयोग अथवा परिवर्तित रूप है,

परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि चोर केवल किसी वस्तु को पाने के लिये ही चोरी करता है। जो बालक चोरी करना जानता है वह यह भी समझता है कि चोरी करना बुरी बात है। केवल किसी वस्तु को पा जाने भर के लिये चोरी तो पागल और कुछ मानसिक रोगी ही करते हैं, अन्यथा चोरी के साथ अधिकार-प्राप्ति के अतिरिक्त कोई कारण विशेष अवश्य छिपा रहता है अर्थात अधिकार की प्रवृत्ति के साथ कोई अन्य प्रवृत्ति भी मिली रहती है।

चोरी करने के कारण:— (१) भूख— हम देखते हैं कि छोटे बच्चे खिलौना आदि जो चीज पा जाते हैं, उसे हाथ से पकड़ कर सीधा मुंह में ले जाते हैं और चूसने लगते हैं। अतः उसे किसी वस्तु को पकड़ने के अतिरिक्त मुंह में रखने में आनन्द आता है। सम्भवतः वे ऐसा भूख मिटाने के लिये करते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार इस समय काम- शक्ति मुख में केंद्रित होती है। यही कारण है कि उसे प्रत्येक वस्तु मुंह में रखने में एक प्रकार का स्वाद अथवा आनन्द आता है। अतः छोटे बच्चों की चोरियां प्रायः भूख मिटाने अथवा जीभ के स्वाद को तृप्त करने के लिये रोटी, पूरी, फल, मिठाई आदि खानी-पीनी वस्तुओं की होती है। यही कारण है कि प्रायः बच्चे हम लोगों के घरों में मीठा-सीठा, फल-फूल आदि चुपके से उड़ाकर खा जाते हैं और पूछने पर कह देते हैं ' अम्मा, मैंने नहीं खाया है चूहा ले गया होगा।' कृष्ण जी की माखन-मिसरी की चोरी तो प्रसिद्ध ही है।

एक बार एक बालक अपनी मां के पानदान में से सुपारी चुरा ले जाता था। मीठी होने के कारण होम्योपैथिक दवाओं की गोलियां, शकर आदि की चोरी करके खा जाना तो बालकों के लिये एक साधारण-सी बात है। कभी-कभी जब बालक किसी कारणवश घर से क्रोधित होकर अथवा कोई अपराध करने पर डर के मारे घर से बाहर रह जाता है या भाग जाता है, और रात हो जाती है तो वह अधिक भूख लगने पर किसी दूकान से खानी-पीनी वस्तु अथवा पैसा-कौड़ी जिससे वह खाना ले सके चुरा लेता है। कभी-कभी अकाल अथवा तेजी आदि अन्य किसी कारण से भूख को तृप्त करने वाली खानी-पीनी वस्तुओं के अतिरिक्त कपड़ा आदि जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएं भी चुरा लेता है। फकीर लोग प्रायः इस प्रकार की चोरियां करते दिखाई देते हैं। एक बार मैंने अखबार में पढ़ा था कि एक आदमी देहली में एक दूकान से जीत की खुशी में लगा हुआ एक झंडा लेकर भागा। पूछने पर मालूम हुआ कि वह और उसके बच्चे भूख से पीड़ित थे और तन से नंगे। वे नंगे होने के कारण लज्जावश बाहर नहीं आ सकते थे, अतः उसने अपनी स्त्री तथा बच्चों के तन ढकने के लिये उस कपड़े को चुरा लिया और इसी प्रकार के दो तीन टुकड़े चुराने की ताक में था।

(२) आत्म-प्रदर्शन अथवा अहंकार (Vanity)—प्रायः अन्य बालकों के पास फैशन की वस्तुएं देखकर बालक अहंकारवश अपने को दिखाने के लिये अपने मां-बाप तथा दूसरों की चीजें चुरा लेते

हैं। वास्तव में उनका ध्येय चोरी करना नहीं होता, वे केवल इतना चाहते हैं कि दूसरों को दिखा सकें कि हम भी तुमसे किसी प्रकार कम नहीं हैं, हमारे पास भी अमुक वस्तु है। उदाहरणार्थ दूसरी लड़कियों को क्लिप, साड़ी-पिन आदि लगाये देखकर लड़कियां अपनी मां के क्लिप, पिन, आदि उड़ा ले जाती हैं और दूसरे लड़कों के पास फाउन्टेन पैन, लाल-नीली पैंसिल, कलम आदि देखकर प्रायः लड़के अपने बाप, भाई अथवा अन्य बच्चों की पैंसिल-कलम आदि चुरा लेते हैं। स्कूल में कलम, पैंसिल, रबड़ आदि की चोरियों का यही कारण होता है; परन्तु इसके ये मानी नहीं कि स्कूल उन्हें चोरी सिखाता है, स्कूल में चोरी करने का नम्बर तो घर में चोरी करने के बाद आता है। वह चोर तो पहले घर में ही हो जाता है।

(३) शौक अथवा वस्तु-प्रेम (Sentiment)—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि बड़े होने पर १२-१३ वर्ष की आयु में बालकों में किसी वस्तु विशेष को इकट्ठा करने का शौक, धुन अथवा लत पैदा हो जाती है। प्रायः लड़कियों को बचपन में गुड़िएं, खिलौने, पचगुट्टे, शीशे की तीलियां, मोती, सीपी आदि जमा करने का और बड़े होने पर कपड़े-लत्ते और गहने-जेवर इकट्ठा करने का शौक होता है और लड़कों को बचपन में जानवरों के पर, घोंसले, पत्तियां, टिकट, तसवीरें, सिगरेट की डिब्बिएं, दियासलाई की डिब्बिएं, पतंगें आदि और बड़े होने पर सुन्दर तस्वीरें, रूमाल, फैशन तथा खेल की वस्तुएं जोड़ने तथा कबूतर, लाल आदि जान-

वर पालने का शौक हो जाता है। अतः वे जहां कहीं भी अपने शौक की चीज पा जाते हैं उसे चुरा-छिपाकर जैसे भी हो, उड़ाकर ले आते हैं।

(४) क्रोध और बदला—कभी-कभी यदि बालक किसी बात पर किसी से क्रुद्ध हो जाता है, तो वह उसको तंग करने के लिये उसकी कोई वस्तु चुरा ले जाता है। उदाहरणार्थ यदि माँ एक बालक को उसके भाई आदि दूसरे बालक से अधिक प्यार करती है, तो वह प्रायः उसको तंग करने के लिये उसके फल-फूल, मीठा-सीठा, पैसे-कौड़ी आदि उड़ा ले जाता है, जिससे उसके मन में यह संतोष हो जाता है कि उसने बदला ले लिया है।

(५) खोज का फल—कभी-कभी ऐसा होता है कि बालक पंख, पत्तियाँ आदि की खोज में घूमने निकल जाता है और यदि साथ ही कोई चीज पा जाता है, तो उसे माले-मुफ्त (लूट का माल) जानकर ले आता है। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। एक बुढ़िया नदी में स्नान करने जाया करती थी, वह कभी आम, कभी साग, कभी कोई फल-फूल आदि जो कुछ भी रास्ते में मिल जाया करता था ले आया करती थी; केवल यह सोचकर कि चलो इतनी दूर तो आये ही हैं, यह ही लेते चलें। इसी प्रकार एक नौकर स्कूल की छुट्टी होने पर सब कमरे देखा करता और जो कुछ पा जाता था उसे अपनी खोज का फल समझकर घर ले जाता था।

चोरी का इलाज—कोई भी एक बार किसी कारण चोरी करने

से चोर नहीं हो जाता है, वह एक बार चोरी करने में सफल होने पर बार बार चोरी करता है और बाद में चोरी करने का आदी और पक्का चोर हो जाता है। अतः चोरी का इलाज करने के पहले यह देखना चाहिये कि चोर चोरी की सीढ़ी के कौन-से डंडे तक पहुंचा है। अतएव बालक की व्यक्तिगत हिस्ट्री ढूंढनी चाहिये।

चोरी की सीढ़ी- (१) सबसे पहले लगभग ६ वर्ष की अवस्था में बालक भूख तथा जीभ के स्वाद आदि के कारण खानी-पीनी वस्तु की चोरी सीखता है। (२) फिर वह धीरे-धीरे घर में रखे हुए अलमारी अथवा ताक पर से पैसे उड़ा ले जाता है और बाद में अभ्यस्त होने पर वह बटुए तथा ताले-कुंजी में रखे हुए रुपए-पैसे ढूंढ़-ढांड़ कर भी ले जाता है। (३) तीसरी श्रेणी उस समय आरम्भ होती हैं जब वह घर के बाहर स्कूल में भी लड़कों और मास्टरों की कलम, पेन्सिल, कापी, किताब, चाकू, रोशनाई आदि की भी चोरी करने लगता है। (४) चौथी श्रेणी उस समय आरम्भ होती है जब कि वह तरकारी वालों की तरकारी, खोमचे वालों का खोमचा, मिठाई वालों की मिठाई, बिसातियों के खेल-खिलौने आदि चुराने लगता है। (५) पांचवीं श्रेणी उस समय आरम्भ होती है जब कि वह घर का सामान उठा ले जाता है और बेच आता है, बाद में वह दूसरों के घर की चीजें भी उठा ले जाता है और बेच आता है। (६) अन्त में वह पक्का चोर और जालिया हो जाता है और बैंक की चैक तथा अन्य कागजों पर जाली दस्तखत भी करने लगता है।

इस प्रकार हम चोरी की सीढ़ी देखकर सहज ही मालूम कर सकते हैं कि बालक कितना पक्का चोर हुआ है। खानी-पीनी वस्तु से रुपये-पैसे की, घर से बाहर की, सौदे वालों का सौदा लूटने और चुराने से घर का तथा दूसरों का सामान उठा ले जाने और बेच आने की और इससे भी अधिक जाली दस्तखत बनाने, दूकानें आदि लूटने, कूमल या सेंध आदि लगाने की चोरी अधिक उच्च कोटि की है।

इलाज :– प्रायः लोग यह समझते हैं कि यदि चोर को यह समझाया जाय कि चोरी करना बुरा है, तो वह संभवतः चोरी करना छोड़ देगा और यदि इतने पर भी न माने, तो उसको अच्छी तरह मारा-कूटा जाय जिससे वह डरकर चोरी करना छोड़ देगा। प्रायः मां-बाप तथा अध्यापक यही इलाज किया करते हैं, परन्तु वे ग़लती पर हैं, ऐसा समझना उनकी भूल है। चोर यह तो स्वयं ही समझता है कि चोरी करना बुरा है, परन्तु किसी कारण विशेष से वह उसका इतना आदी हो गया है कि उसे छोड़ नहीं सकता। इसके अतिरिक्त चोरी अधिकार की प्रवृत्ति का एक कुत्सित रूप है और एक नैसर्गिक प्रवृत्ति को कुचलना और उसके विकास को रोकना न तो उचित ही है और न सम्भव ही; आवश्यकता तो केवल इस बात की है कि वह उसका उचित प्रयोग करे, अनुचित नहीं। चोरी छुड़ाने और अधिकार प्रवृत्ति का उचित प्रयोग तथा विकास करने के लिये निम्न लिखित उपाय करने चाहिएंः—

उपाय :—स्वत्त्व (Ownership) - (१) यदि कोई बालक चोरी

करता है और वह पकड़ा जाता है, तो प्रायः मां-बाप उसको जेब-खर्च देना बन्द कर देते हैं, जिसका फल यह होता है कि चोरी करने का एक और कारण उत्पन्न होजाता है और बालक चोरी करना छोड़ने के बदले और दूनी तेजी तथा जोश के साथ करने लगता है। यद्यपि देखने में यह बड़ी उलटी सी बात प्रतीत होती है, तथापि वास्तव में इसका सच्चा उपाय उसको दूने पैसे देना है। यदि उसको एक आना रोज़ जेब-खर्च को दिया जाता है, तो उसको दो आने दे दें, यदि उसने चार आने चुराये हैं, तो उसे आठ आने दे दें। कहने का तात्पर्य यह है कि उसके साथ सख्ती का बर्ताव करने और उसे दंड देने के बदले उसके साथ सहानुभूति दिखानी चाहिए और दया का बर्ताव करना चाहिए और उसको इतना जेब-खर्च देना चाहिए कि वह खर्च करने के बाद कुछ बचा भी सके और साथ ही बचे हुए पैसे रखने के लिये उसे एक सन्दूकची या गोलक दे देना चाहिए। इस प्रकार वह कुछ पैसे बचा सकेगा, अपना उत्तरदायित्व समझेगा और जब उसे अपने पैसे का दर्द होगा तो वह दूसरे के पैसे का भी दर्द करेगा। प्रायः लोग कहते हैं कि छोटे बच्चे अपना-विराना क्या समझें, परन्तु यह बात नहीं है। छोटा बच्चा अपने मास्टर के चाक के डिब्बे में से एक चाक की बत्ती भले ही चुरा ले, परन्तु अपने साथी की अकेली बत्ती कभी नहीं चुरायेगा, वह अपनी मां को दो आने में सात पैसे की तरकारी भले ही लाकर दे और एक पैसा बचा ले, परन्तु उसके सन्दूक में से कभी एक पाई नहीं चुरायेगा, वह

हर एक व्यक्ति की चीज चुरा सकता है, परन्तु किसी ग़रीब बुढ़िया या ऐसे व्यक्ति की, जो उस पर दयालु हो और प्रेम-भाव रखता हो, कभी कोई चीज नहीं चुरायेगा। अतः स्वत्त्व (Ownership) की प्रवृत्ति का उचित प्रयोग करके बालक पर उत्तरदायित्व सौंपकर चोरी की आदत छुड़ाई जा सकती है। मेरा निजी अनुभव है कि एक बार मेरा एक बच्चा प्रायः मेरी जेब से पैसे चुराकर ले जाता था। मैंने उसको एक रुपया महीना देना आरम्भ कर दिया और एक टीन का डिब्बा और ताला उसको रखने के लिये दे दिया। फल यह हुआ कि उसने पैसे चुराना ही नहीं छोड़ दिया, अपितु व्यर्थ खर्च करना भी छोड़ दिया और जल्दी ही दो-तीन मास में कई रुपये जोड़ लिये।

(१) उत्तरदायित्व—यदि चोर पर उसी वस्तु का उत्तरदायित्व छोड़ दिया जाय जिसे वह चुराता है, तो वह चोरी करना छोड़ देता है। एक बार एक लड़का प्रायः दूसरे लड़कों की किताबें चुरा लिया करता था और बाज़ार में बेचकर पैसों की चाट खा-पी जाया करता था। मैंने उसके पिता से उसके जेब-खर्च का उचित प्रबन्ध कर दिया और उसे क्लास का मॉनीटर बना दिया। अब उसके पास पैसे भी रहने लगे और उसे अपने पैसे का दर्द होने लगा, फ़िजूल खर्च करना बन्द होगया और साथ ही वह अपने साथियों की पुस्तकों की रक्षा करनी भी अपना कर्तव्य समझने लगा और सोचने लगा कि यदि अब किसी की पुस्तक गई, तो उसकी ही बदनामी होगी। इस प्रकार वह अपना उत्तरदायित्व

समझने लगा और उसने पुस्तकें चुराना बन्द कर दिया।

(३) कमाना अथवा पैदा करना— किसी वस्तु को पा जाना भर ही काफ़ी नहीं है। उसको पा जाने की अपेक्षा अपने हाथों से कमाने की आवश्यकता है (To earn rather than to hold is necessary)। आप बच्चे को उसके एक आना चुराने के पूर्व उसे दो आने भले ही दे दें, परन्तु इससे उसे पूर्ण सन्तोष नहीं होता। पूर्ण सन्तोष उसे उसी समय होता है जब कि वह दो आने स्वयं अपने हाथों से परिश्रम करके पैदा करता है। अपने हाथ से परिश्रम के साथ कमाया हुआ खाना महाराजिन के हाथ के बनाए हुए खाने से कहीं अधिक स्वादिष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार अपनी मेहनत से कमाए हुए चार पैसे दूसरे के यूं ही दिये हुए चार आने से अधिक प्यारे और कीमती लगते हैं। अपने हाथों से परिश्रम करके चार पैसे पैदा करने में कुछ आनन्द दूसरा ही है। अतः पैसे आदि देने के पूर्व कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि बच्चा वे पैसे परिश्रम करके अपनी मेहनत के फल-स्वरूप पा सके। एक बार एक बालक प्रायः घर से पैसे चुरा ले जाता था। मैंने उसके पिता से कहा कि यह जो कुछ घर का काम-धंधा किया करे— आटा पीसना, तरकारी लाना, पढ़ना आदि, तो इसके फल स्वरूप उसे कुछ पैसे दिया करें। उन्होंने ऐसा ही किया। थोड़े दिन बाद लड़के के पास कुछ दाम जमा होगये। वह उन्हें संभाल-संभालकर रखने लगा और उसने पैसे चुराने बन्द कर दिये।

(४) शर्त— प्रायः बालक शर्त भी बहुत पसन्द करते हैं। यदि

आप उनकी मन-चाही वस्तु जिसे वे प्रायः चुरा ले जाते हैं किसी शर्त पर दे दें, तो वे उसे चुराना बन्द कर देते हैं। एक बार एक आदमी के बाग में प्रायः बच्चे आया करते थे और उसके तमाम पेड़ों के फल खा जाया करते थे। उसने उन बालकों के सरदार से कहा 'देखो भाई, इनमें से अमुक पेड़ तो तुम मेरे लिये छोड़ दो और शेष पेड़ों में से तुम फल खा सकते हो।' लड़कों ने यह शर्त मान ली और भविष्य में अपने आप ही उस पेड़ के फल नहीं खाये, अपितु दूसरे बालकों को भी छूने तक नहीं दिये।

उक्त प्रयोगों से हम बालकों का चोरी करना छुड़ा सकते हैं, परन्तु पक्के चोरों और डाकुओं के साथ इनसे काम नहीं चल सकता, उनके लिये तो जेल ही ठीक है। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार सोसायटी तथा धन की उनसे रक्षा नहीं हो सकती।

१२

भगोड़ापन

बालकों का स्कूल अथवा घर से भाग जाना

भागना--भागना दो प्रकार का होता है, स्कूल से भागना और घर से भागना। स्कूल अथवा घर से चले जाना कोई बड़ा भारी अपराध नहीं है, परन्तु समस्त बुराइयों का श्रीगणेश इसी से होता है। मान लो कोई लड़का पाठ याद करके न लाने अथवा घर पर करने के लिये दिया हुआ काम पूरा न करने के कारण स्कूल नहीं जाता है अथवा घर में कोई हानि अथवा अपराध करने पर पिटने के डर से घर से भाग जाता है और कोई उससे भागने का कारण पूछता है, तो वह उससे झूठा-सच्चा कोई फबता हुआ कारण गढ़कर बता देता है और एक बार सफल होने पर बार-बार वैसा करने का आदी हो जाता है। मेरा निजी अनुभव है कि जो लड़के घर का काम करके नहीं लाते हैं अथवा जिन्हें पाठ याद नहीं होता है, वे या तो उस घंटे में क्लास में ही नहीं जाते हैं अथवा पेशाब-पैखाने का या कापी घर पर भूल आने का बहाना करके उड़ जाते हैं। धीरे-धीरे वे बहाने बनाने और झूठ बोलने में पक्के और भागने के आदी हो जाते हैं। यही दशा घर से भागने पर भी होती है। प्रायः बालक खेलने अथवा अन्य किसी कारण से घंटों के लिये बाहर निकल जाते हैं और पूछने पर कह देते हैं कि 'मैं

अमुक लड़के से कापी लेने गया था'। इस प्रकार जब वे घंटे दो घंटे तक भागने के आदी हो जाते हैं, तो धीरे-धीरे दिन भर के लिये लापता हो जाते हैं। प्रायः लड़के घर से स्कूल जाने के लिये आते हैं, परन्तु इधर-उधर खेलते कूदते रहते हैं और छुट्टी का समय आने पर लौट जाते हैं। इसके पश्चात वे कभी कभी शाम तक घर नहीं पहुंचते और जब अधिक देर हो जाती है, तो यह सोचकर कि यदि माता जी व पिता जी जागते होंगे तो वे पीटेंगे, प्रायः देर तक बाहर रहते हैं और मां-बाप के सो जाने पर चुपके से घर में आजाते हैं। उधर भूख भी सताती है, अतः वे कहीं से खानी-पीनी वस्तुएं अथवा उनके लेने के लिये रुपये-पैसे चुरा लेते हैं। इस प्रकार वे चोरी भी करने लगते हैं। अतः हम देखते हैं कि केवल भागने-मात्र से बालक झूठा और चोर भी हो जाता है।

भागने के कारण- (१) शिकार--योवनोद्गम काल में बहुत से बालकों में कुत्तों को साथ लिये खरगोश, हिरन आदि का शिकार करने; बंसी लिये हुए मछली का शिकार करने; गुलेल लिये हुए चिड़िएं मारते फिरने, चिड़ियों के घोंसले, फल-फूल आदि खोजते फिरने का शौक हो जाता है। किसी-किसी बालक में तो पीछा करने का यह शौक इतना अधिक होता है कि यदि शहर में अन्य कोई चीज पीछा करने को नहीं मिलती तो वे लड़के-लड़कियों का ही पीछा करते हैं। इस शिकार करने और पीछे लगने की धुन में वे प्रायः स्कूल से और घर से भाग जाते हैं।

(२) घूमने का शौक—यौवनोद्गम काल में नये अनुभव करने और नये दृश्य देखने के लिये घूमने और यात्रा करने का भी शौक हो जाता है। इनको स्कूल छोटा और घर तंग मालूम होता है। यही कारण है कि बहुत से बालक यौवनोद्गम काल में सौदा-सुफल बेचने अथवा फेरी लगाने वालों के साथ घर से भाग जाते हैं।

(३) घर की निर्धनता—बालकों को खाने-पहनने, पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त मनोरंजन की भी आवश्यकता है। हमारे भारतवर्ष में अनेकों ऐसे माता-पिता हैं जो दिन-रात पेट भरने के साधन में लगे रहने के अतिरिक्त न तो भली भांति बालकों की देख-रेख ही कर सकते हैं और न घर में उनके मनोरंजन के साधन ही जुटा सकते हैं और न उनका महत्व ही समझते हैं। उनके घर में बालकों के खेलने के लिये आवश्यक खेल-खिलौने तक नहीं होते। इतना ही नहीं बहुत से घरों में तो खेलने के लिये बड़ा आंगन अथवा पास में कोई मैदान या पार्क और बैठने-उठने तथा पढ़ने-लिखने के लिये कोई कमरा तक नहीं होता। फल यह होता है कि बालकों को मनोरंजन अर्थात खेलने-कूदने के लिये गलियों में जाना पड़ता है और वे कुसंग में पड़कर आवारा हो जाते हैं और प्रायः घर से भाग जाते हैं।

(४) घर का कुप्रबन्ध—कभी-कभी ऐसा होता है कि मां अथवा बाप में से एक बालक को डांटता है और दूसरा उसका पक्ष ले लेता है, अथवा मां-बाप तनिक देर में तो बहुत सख्ती से डांटते-

पीटते हैं और तनिक ही देर में पानी हो जाते हैं और बालक को प्यार करने लगते हैं। अथवा मां-बाप बालक के इकलौता आदि होने के कारण इतना प्यार करते हैं या वृद्ध होने के कारण इतना डरते हैं कि बालक जो चाहे सो करता रहे, वे कुछ कहते ही नहीं। फल यह होता है कि बालक बिलकुल निडर हो जाता है और जहां चाहे वहां बैठता-उठता है और जो चाहे सो करता है और जहां चाहे चल देता है। कभी-कभी माँ-बाप बालक पर इतनी सख्ती रखते हैं कि उसे घर से निकलने तक नहीं देते। फल यह होता है कि वह स्कूल आदि जाते समय मौका पाकर भाग जाता है।

(५) पढ़ने लिखने में अरुचि—कभी कभी जब बालक मानसिक दुर्बलता, रोग आदि के कारण कक्षा में पिछड़ जाता है, तो उसे पढ़ना भार-स्वरूप मालूम होने लगता है और धीरे-धीरे वह कमजोरी इतनी बढ़ जाती है कि बालक को पढ़ने-लिखने से अरुचि हो जाती है और वह उससे छुटकारा पाने के लिये स्कूल तथा घर छोड़कर बाहर चल देता है।

(६) अध्यापक के प्रति घृणा—कभी-कभी विद्यार्थी तथा अध्यापक में किसी कारणवश झगड़ा हो जाता है और विद्यार्थी अध्यापक को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। ऐसी दशा में विद्यार्थी का स्कूल में तथा पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगता है और वह ऊबकर उस अध्यापक के घंटे से अथवा सब घंटों से और अन्त में जान छुड़ाने के लिये घर तक से भाग जाता है।

(७) धन कमाने की इच्छा—१४-१५ वर्ष की अवस्था में पढ़ने

लिखने में मन न लगने, घर की आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण प्रायः बालक पढ़ना-लिखना छोड़कर घर से चल देते हैं और फ़ौज आदि में नौकरी कर लेते हैं।

(८) संयोग—कभी-कभी संयोगवश ऐसे अवसर आजाते हैं कि सहसा स्कूल अथवा घर से भागने का विचार हो जाता है। उदाहरणार्थ मान लें कि किसी कारण से किसी लड़के को स्कूल पहुंचने में देर हो गई। संयोग से फाटक पर कोई दूसरा लड़का मिल गया। उसने कहा, 'अजी, घंटी बजे तो बड़ी देर हो गई। अब जाओगे तो मास्टर साहब पीटेंगे अथवा बेंच पर खड़ा कर देंगे। इससे चलो कहीं घूम आएं। कल को आज की अर्जी दे देंगे।' बस वह कहने में आजाता है और चल देता है। धीरे धीरे उसे भागने की आदत हो जाती है और वह पक्का भगोड़ा हो जाता है।

(९) हिस्टीरिया, मिर्गी, दिल का बैठना आदि रोग—कभी कभी हिस्टीरिया, मिर्गी आदि के दौरे में बालक स्कूल तथा घर से भाग जाते हैं और उनको पता भी नहीं चलता। उनको अपने कार्य का पता उस समय चलता है जब दौरा समाप्त हो जाता है। एक बार इसी प्रकार का एक रोगी घर से भाग गया। उसने परदेश में जाकर एक दूकान खोली और बड़ा लाभ उठाया। जब लगभग दो-ढाई साल बाद दौरा समाप्त हुआ तो उसे सुध आई कि वह कौन है और वहां कैसे आगया।

(१०) अपराध—कभी-कभी जब बालकों से कोई बड़ी हानि अथवा अपराध हो जाता है, तो वे डर के मारे घर में अथवा स्कूल

में नहीं जाते और भाग जाते हैं और कुछ समय बीतने पर, जब कि वे समझते हैं कि अब अध्यापक अथवा माता-पिता का क्रोध कम होगया होगा और वे उनकी उपस्थिति से चिंतित होने के कारण उनसे कुछ न कहेंगे, तब लौटते हैं। इस प्रकार के अपराध कोई चीज तोड़-फोड़ डालना, चोरी आदि करना अथवा काम सम्बन्धी अपराध (Sexual crime) हैं।

भगोड़ेपन का इलाज—इसका इलाज करने के पहले बालक की व्यक्तिगत हिस्ट्री देखनी चाहिये और उसकी डाक्टरी परीक्षा कराकर देखना चाहिये कि बालक को हिस्टीरिया, मिर्गी आदि कोई मानसिक रोग तो नहीं है। तत्पश्चात् निम्नलिखित उपाय करने चाहिएं—

उपाय—(१) बालक को घर तथा स्कूल में अधिक स्वतंत्रता देनी चाहिये और यदि शासन अत्यन्त कड़ा हो तो कुछ ढील कर देनी चाहिये। ईश्वर ने उसको हाथ-पैर दिये हैं वह उनको चलाये-फिरायेगा अवश्य। अतः उचित विकास के लिये उनको अच्छी तरह घूमने-फिरने, खेलने-कूदने का मौका देना चाहिये।

(२) बालक का चुपके से पीछा करके देखना चाहिये कि वह भागकर कहां जाता है और क्या करता है। देखिये, उसकी रुचि क्या है। वह सिनेमा जाता है, शिकार करता है, तस्वीरें देखता है अथवा दूकानें देखता है। उसकी इन रुचियों को रोकने के बदले उचित ढंग से उतेजित करना चाहिये। अतः मां-बाप तथा अध्यापकों को चाहिये कि उसे अपने साथ स्काउटिंग के ट्रिप (Trip) पर,

इक्सकर्शन (excursion) पर, शहर की सुन्दर सुन्दर इमारतें, बाग-बगीचे इत्यादि दिखाने तथा इधर-उधर घुमाने ले जाएं।

(३) बालक की रुचि, बुद्धि, चरित्र आदि देखकर उनके अनुसार शिक्षा तथा शासन-प्रणाली को परिवर्तित कर लेना चाहिये। यदि विद्यार्थी तथा अध्यापक में न पटती हो, तो उसका कारण खोजकर उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि अध्यापक विद्यार्थी को महा धूर्त और बुद्धू ही समझता हो, तो उसका 'सेक्शन' अथवा स्कूल बदलवा देना चाहिये और किसी आर्ट (Art) अथवा टेकनीकल (Technical) स्कूल में भेज देना चाहिये जहां वह चमक सके और अपनी योग्यता दिखा सके। इसके विपरीत अध्यापक को अपनी शिक्षा-प्रणाली और अपने बर्ताव का ढंग ऐसा बनाना चाहिये कि बालक भागने से पढ़ने को और घर से स्कूल को रुचिकर समझें।

माता-पिता को चाहिये कि बालक के लिये खेल-खिलौने, गेंद-बल्ला आदि खेलने का सामान तथा अन्य साधन जहां तक संभव हो जुटा दें और बालक को खेल-कूद के लिये क्लब आदि में जाने दें और उसे उचित तथा आवश्यक स्वतन्त्रता दें। यदि मां-बाप गरीबी के कारण खेल तथा मनोरंजन के साधन जुटाने में असमर्थ हों तो उनकी आर्थिक सहायता करनी चाहिये और यदि वे अपढ़ होने अथवा अन्य किसी कारण से खेलों का महत्व न समझते हों तो उनको समय-समय पर समझाना चाहिये।

उक्त उपायों से बालकों का भागना रोक सकते हैं।

१३

धूम्र-पान

शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक में पान-बीड़ी-सिगरेट के विषय में कुछ कहना तनिक अप्रासांगिक सा प्रतीत होता है, परन्तु चूंकि आजकल के विद्यार्थियों का इससे इतना घनिष्ट सम्बन्ध होगया है कि विरले ही विद्यार्थी इस कुप्रवृत्ति अथवा दुर्व्यसन में पड़ने से बचते हैं, यहां तक कि इसमें कोई बुराई अथवा दोष ही नहीं समझा जाता और शिक्षित लोगों की सभा-सोसायटियों का यह एक मुख्य अंग होगया है, अतः इसकी विस्तृत चर्चा करना अनिवार्य्य है।

किसी नशे के विषय में किसी भी प्रकार की चर्चा करना लोग उतना ही अनुचित समझते हैं जितना किसी गुप्त विषय की। धूम्र-पान भी एक प्रकार का नशा है, कारण कि तम्बाकू में एक प्रकार का विष होता है जिसे निकोटीन कहते हैं। यह इतना तीव्र होता है कि यदि इसकी एक बूंद भी किसी खरगोश के कान में डाल दी जाय तो वह तुरन्त मर जाय। यही कारण है कि तम्बाकू खाने-पीने से नव-सिखियों को प्रायः और कभी कभी पुराने खाने-पीने वालों को भी अति से चक्कर आने लगता है और सिर घूमने लगता है। जिस प्रकार काम-शिक्षा देने में लोग संकोच करते हैं, उसी प्रकार इस विषय में भी कुछ कहते

हुए डरते हैं; परन्तु वास्तव में देखा जाय, तो यह ठीक नहीं, कारण कि आखिर बालक इन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर तो लेते ही हैं। सच तो यह है कि जितना हम उनसे इन बातों को गुप्त रखते हैं, जितना हम डरते हैं कि वे इन बातों को न जानें, इनसे दूर रहें, इन कुप्रवृत्तियों तथा दुर्व्यसनों में न पड़ें, उतना ही अधिक वे इन सब बातों को जान जाते हैं और इन कुप्रवृत्तियों के शिकार हो जाते हैं। हम लाख उनसे इस विषय में एक शब्द न कहें, पर वे जान ही लेते हैं और साथ ही साथ एक हानि यह होती है कि उनको यह ज्ञान ऐसे आदमियों से प्राप्त होता है जो अनुभवी तथा निपुण नहीं होते। वे नौकरों-चाकरों, संगी-साथियों तथा गंदी पुस्तकों द्वारा ये सब बातें जान लेते हैं। फल यह होता है कि इस प्रकार का ज्ञान सुपथ की ओर ले जाने के स्थान में कुपथ की ओर ले जाता है। फिर एक बात यह भी है कि बालकों में उत्सुकता अधिक होती है। जितना ही उनसे किसी कार्य को करने के लिये निषेध किया जाता है, उतना ही वे उसे करने के लिये उत्सुक होते हैं और सामने नहीं तो चुरा-छिपाकर करते हैं। उचित तो यह है कि समय आने पर हम काम शिक्षा के साथ ही साथ इन विषयों की भी चर्चा कर दें।

पान खाना और सिगरेट-बीड़ी अथवा हुक्का पीना एक प्रकार का दुर्व्यसन है, एक प्रकार की कुप्रवृत्ति है, आवश्यकता नहीं। प्रत्येक व्यसन किसी कारण विशेष से एक निश्चित समय पर उत्पन्न होता है। तदनुसार पान-बीड़ी-सिगरेट का शौक भी

ग्यारह से चौदह वर्ष के बीच बालक के यौवनोद्गम काल में पदार्पण करते करते ही पैदा होता है। अब प्रश्न यह है कि यह पैदा होता कैसे है, किन कारणों तथा परिस्थितियों में यह कुप्रवृत्ति पड़ती और बढ़ती है।

यह आदत सभी बालकों में एक ही कारण से उत्पन्न नहीं होती, पर हां एक बात सब में एक सी पाई जाती है कि प्रत्येक बालक निश्चित समय के पूर्व ही बड़े होने का प्रयत्न करता है। तीन-चार वर्ष के बालक को देखिये तो वह कोई भी वस्तु सिर पर रखकर सौदा-सुलफ बेचने वाले की नकल करता हुआ दिखाई देता है; पांच-साल की आयु में वही बालक हाथ पकड़कर नाड़ी देखने का बहाना करके डाक्टर बनने की चेष्टा करता है; दस-ग्यारह वर्ष का होने नहीं पाता कि वह मां-बाप तथा अपने अन्य बड़ों की भांति दूकान लगाने, दफ्तर जाने, टिकट बाबू, डाक-बाबू पोस्टमैन आदि बनने की अनधिकार चेष्टा करता हुआ दिखाई देता है; तेरह-चौदह वर्ष का होने पर तो वह अपने बड़ों तथा अन्य वयस्क पुरुषों की भांति रहना-सहना, बाल संवारना अकड़ कर चलना, नौकरों-चाकरों तथा अपने से छोटों को डाँटना-फट कारना, हाथ में अखबार लिये हुए मुँह में पान का बीड़ा दबाये हुए, सिगरेट का धुआं उड़ाते हुए शान के साथ चलना-फिरना आदि सभी काम करने लगता है। इससे प्रतीत होता है कि संभवतः वह बचपन में अपने को बड़ी दीन-हीन अवस्था में पाता है और बचपन को वह सिवाय इसके कि बड़े उसको डाँटे-डपटें

और कभी कभी उसको थोड़ी-बहुत चपतयाई करदें और किसी योग्य नहीं समझता। बड़ों की नकल वह उस दीन-हीन अवस्था से निकल भागने के लिये ही करता है, इस दशा से छुटकारा पाने के लिये उसके मन में एक प्रकार का आन्दोलन उठता है और वह शीघ्रातिशीघ्र स्वतंत्रता प्राप्त करके स्वछंदतापूर्वक विचरना चाहता है। हां, यदि उसका बस नहीं चलता तो केवल अपने शरीर की ऊंचाई-नीचाई तथा दाढ़ी-मूंछ पर। चाहे वह कितना ही एड़ी उठाकर पंजों के बल उचक-उचक कर चले, पर एक सूत भी ऊंचा नहीं हो सकता। वह बिना बाल निकले लाख मुहं पर उस्तरा फेरे और दाढ़ी छील डाले, पर समय के पूर्व दाढ़ी-मूंछ नहीं आ सकती।

अब आप समझ गये होंगे कि बचपन में किस प्रकार अनेकों आदतें यूं ही अनावश्यक रूप से केवल बड़े होने का शौक पूरा करने की धुन अथवा बचपन से छुटकारा पाने के चक्कर में पड़कर स्वतंत्रता के लिये किये जाने वाले आंदोलन में ही पड़ जाती हैं। जिनमें से कुछ तो बड़े होने पर अनावश्यक होने के कारण छूट जाती हैं, लेकिन कुछ का मनुष्य इतना आदी हो जाता है कि छोड़ना चाहने और प्रयत्न करने पर भी वह उन्हें छोड़ नहीं सकता और बाद में वे आवश्यक सी प्रतीत होने लगती हैं। इनमें से एक आदत या कुप्रवृत्ति पान-बीड़ी-सिगरेट का दुर्व्यसन भी है। इस आदत अथवा दुर्व्यसन के पड़ने में कुसंग का तो प्रभाव पड़ता ही है, परन्तु उन वयस्क पुरुषों से भी बहुत

उत्तेजना मिलती है जिनके कि सम्पर्क में वह दिन-रात आता है। यदि किसी घर में वयस्क मनुष्य माता-पिता, ताऊ-चाचे आदि पान-सिगरेट खाने-पीने वाले पहले से ही उपस्थित हों अथवा स्कूल में शिक्षक लोगों में यह दुर्व्यसन हो और वे विद्यार्थियों से पान-सिगरेट आदि मंगाते हों, तो फिर कुप्रवृत्ति के पड़ने में देर नहीं लगती। अब मैं सिगरेट पीने वाले एक दुर्व्यसनी का वास्तविक उदाहरण लेता हूं और उसकी जीवनी का कुछ अंश यहां देता हूं। इससे आप समझ जायेंगे कि यह दुर्व्यसन किस प्रकार उत्पन्न होता है, किस प्रकार वयस्क पुरुषों द्वारा उत्तेजना मिलती है और फिर किस प्रकार यह लत बढ़ती जाती है।

"उम्र थी ग्यारह-बारह साल की और मैं पढ़ता था उर्दू स्कूल के दर्जा चार में। घर में हुक्का पीने वालों की कमी न थी। खालू-मामू वगैरह सभी तो हुक्का पीने वाले थे, अम्मीजान का पानदान और तम्बाकू की शीशी हमेशा उनके पास ही रहती थी और अब्बाजान तो ऐसे बेढब पीने वाले थे और ऐसा कसकर दम लगाते थे कि चिलम से आग की लौ उठने लगती थी और अब्बाजान लुढ़के हुए चबूतरे के नीचे दिखाई देते थे, कारण कि बदन था कमजोर, दम लगाते थे खैंचकर, सह नहीं सकते थे, तम्बाकू के नशे में सिर चक्कर खाने लगता था। कभी कभी अब्बाजान मुझसे भी हुक्का ताजा करने और चिलम भरने को कह देते थे। इधर तो जवानी का उभार और उधर यह उत्सुकता कि देखें इसमें क्या मज़ा आता है और साथ ही यह डर भी कि पानी ठीक है या

नहीं, कहीं अधिक या कम तो नहीं है, चिलम भी ठीक प्रकार भरी गई है या नहीं। अतः हुक्के की जाँच करने के बहाने उसके पीने का शौक भी पूरा होने लगा। हां, इतना अवश्य रहा कि दो एक बार हुक्के का पानी मुंह में भर आया, पर धीरे धीरे यह कमी भी दूर हो गई। यह तो हुआ हुक्के का श्रीगणेश। अब तनिक सिगरेट की और सुनिये।

उर्दू स्कूलों में मास्टर लोग सुबह-शाम लड़कों को घर पर पढ़ने के लिये भी बुलाया करते हैं। मैं और मेरे दो-चार साथी रात को पंडित जी के घर पढ़ने जाया करते थे। जाड़ों के दिन थे और रात को दस बजे का लौटना। अब आप समझ सकते हैं कि अगहन-पूस के चिल्ला जाड़ों में क्या दशा होती है। दिन तो सूरज भगवान की कृपा से कट जाता है, लेकिन रात को आग का ही सहारा रहता है। गो कि बदन पर रुई की काफ़ी मोटी मिरजई रहती थी और ऊपर से कम्बल भी, लेकिन फिर भी जाड़े के मारे ठिठुर जाते थे। आखिर एक दिन रुककर मीटिंग की गई और सोचा गया कि इस जाड़े से कैसे छुटकारा मिले। बंदे को हुक्का पीने की लत तो पड़ ही चुकी थी, बीड़ी-सिगरेट की कसर अभी थी, सो उसका स्वाद चखने की भी मन में चाह थी। मैं भला मौक़े पर कब चूकने वाला था। बात चलते ही प्रस्ताव पेश कर दिया कि जाड़ा आग से जाता है और ऐसी आग जो अंदर तक सेक पहुंचाये सिवाय सिगरेट-बीड़ी के और कहाँ मिल सकती है। नई चीज़ थी और नई तरकीब। फिर इसमें दोष भी क्या था, पंडित जी

तो खुद ही पीते थे और आये-दिन लड़कों से सिगरेट-बीड़ी मंगाते रहते थे और दिन भर बैठे बैठे फूक २ करते और धुआं उड़ाते हुए दिखाई देते थे। बस राय पास हो गई और उसी वक्त सिगरेट खरीदी गई और मुंह से धुआं निकलकर सांप की तरह लहराता हुआ आसमान पर चढ़ने लगा, बदन में गर्मी और चाल में अकड़ आगई और साथ ही सिर में चक्कर भी जो थोड़ी देर में दूर हो गया। धीरे धीरे आदत पड़ गई और साथ ही साथ कोई देख न ले चुराकर सिगरेट पीने की और कभी कभी पैसे न होने पर उधार लेने और तकादा होने पर पैसे चुराने की आदतें भी पड़ने लगीं। इस प्रकार सिगरेट के शौक का भी श्रीगणेश होगया।

धीरे धीरे सिगरेट पीना फैशन में आने लगा और घर से निकलने से पहले जेब में सिगरेट का होना आवश्यक हो गया। घर से बाहर निकले कि लग गई सिगरेट मुंह में और उड़ने लगा धुआं चक्कर काटता हुआ। इतना ही नहीं, चाल में भी अकड़ पैदा हो गई और समझने लगे कि अब दुनिया में हमारे समान कोई नहीं है। इस प्रकार सिगरेट से एकदम स्थिति ही बदल गई और हो गये बड़े आदमी, लेकिन कभी कभी ऐसे अवसर भी आ पड़ते थे कि बड़प्पन का बचाना कठिन हो जाता था और चोर-चकोर की भाँति भागकर पास-पड़ोस की गली में घुसकर छिपने तक की नौबत आजाती थी। इतनी देख-भाल रखते और चौकन्ना रहते हुए भी कभी कभी मुसीबत में फंस जाना ही पड़ता था। एक दिन की बात है कि लाट साहब की तरह सिगरेट मुँह में दबाए, धुआं

उड़ाते हुए चले जा रहे थे कि इतने में सामने से वालिद साहब आते हुए दिखाई पड़े। बस नीचे का दम नीचे और ऊपर का ऊपर, भागकर छिपने को सामने कोई गली भी न थी, बदन में काटो तो खून नहीं, आंखों तले अंधेरा छा गया, जाड़ों का मौसम था और उसमें भी दिसम्बर का महीना, लेकिन मैं फिर भी सिर से पैर तक पसीने में तर था। आखिर घबराहट में सिगरेट जेब में रख ली और मैं आँख बचाकर चलने लगा, लेकिन भला वालिद साहब की निगाह कब चूकने वाली थी। आखिर मुकाबला हो ही तो गया। बहुत-कुछ झूठ-सच बोलने, कापी आदि का बहाना करने के बाद किसी तरह राम राम करके जान बची, लेकिन नये कोट की जेब साफ हो गई और पतलून भी अछूती न बची। उस दिन से कान पकड़ा और तोबा की कि अब कभी सिगरेट मुंह से न लगाऊंगा, लेकिन नशे वालों के प्रण जैसे होते हैं वैसा ही हुआ, दस-पांच दिन तो नहीं पी, पर संग-साथ में पड़ने पर बचना कठिन था और फिर भला यार लोग कब मानने वाले थे। फिर पीने लगा और फिर बड़ा होने पर एक दिन तो मास्टर साहब के हाथ से एक दर्जन बेंत खाने पर भी सिगरेट का चस्का न छूटा, न छूटा। इतना इसका साथ देने पर भी हाथ क्या लगा ? कुछ नहीं केवल खाँसी-खुर्रा।"

संभवत, अब आप समझ गये होंगे कि घर में बड़ों के सिगरेट-बीड़ी पीने और कुसंगत में पड़ने पर किस प्रकार छोटे बच्चे भी बीड़ी-सिगरेट, हुक्का आदि पीने लगते हैं। पिता,

चाचा, ताऊ हो या अध्यापक उनका बालकों से बीड़ी-सिगरेट मंगवाना, हुक्का भरवाना और उनके सामने पीना उचित नहीं। यदि ऐसी परिस्थिति कहीं घर तथा स्कूल दोनों में उपस्थित हो जाय तब तो फिर यह दुर्व्यसन पैदा होते तनिक भी देर नहीं लगती और जहां बालक इसका आदी हुआ कि दूसरी कुप्रवृत्तियां, झूठ बोलना, चोरी करना, सामान बेचना आदि भी धीरे धीरे स्वयं ही आने लगती हैं।

प्रत्येक नशे के विकास की चार श्रेणियां होती हैं—(१) दूसरों के पैसे से नशा करना (२) अपने पैसे से नशा करना (३) उधार अथवा ऋण लेकर नशा करना और (४) चोरी करके नशा करना। प्रत्येक नशे में यह होता है कि आरंभ में तो मित्र लोग आग्रह करके खिलाते-पिलाते हैं और जब वह खाने-पीने लगता है तो फिर यह आशा करते हैं कि वह भी उनको खिलाये-पिलाये। उधर वह इतना आदी हो जाता है कि स्वयं बिना खाये-पिये और खिलाये-पिलाये चैन नहीं पड़ता और फिर क्या है उड़ने और छनने लगती है और घर का पैसा फुंकने लगता है। धीरे धीरे घर का पैसा समाप्त होने लगता है और ऋण लेने की नौबत आने लगती है। प्रारम्भ में तो ऋण सहज ही मिल जाता है, परन्तु ज्यों ज्यों ऋण बढ़ता और सम्पत्ति निकलती जाती है त्यों त्यों ऋण भी कठिनता से मिलने लगता है और यदि मिलता भी है तो ऊने-दूने व्याज पर और व्याज दौड़ता है घोड़े की दौड़ और अंत में इतना भारी बोझ होजाता है कि उतरना कठिन ही नहीं

असम्भव सा हो जाता है और फलस्वरूप घर का सामान, मकान-दूकान, बाग-बगीचे आदि संपत्ति बिकने की नौबत आने लगती है, और जब न तो सम्पत्ति ही रहती है और न ऋण ही मिलता है, तो सिवाय चोरी करने के और कोई चारा नहीं रहता और अंत में पकड़ जाने पर चोर की जूते, लात, कारागृह आदि जो दशा होती है वह आप जानते ही हैं। शराब के नशे में ये सब बातें तथा श्रेणियां पूर्णतः देखने को मिलती हैं, परन्तु छोटे-मोटे नशों में ये सब बातें स्पष्ट दिखाई नहीं देतीं और न उतने भीषण-रूप में ही सामने आती हैं। पान-बीड़ी-सिगरेट भी एक प्रकार का छोटा सा नशा ही है। पान खाना गन्दी आदत अवश्य है, दाँतों के लिये भी हानिकारक है, उसकी पीक दीवारों तथा फर्श पर थूकना तो बहुत ही गन्दी आदत है और बीमारी का घर है, परन्तु उसका चलन इतना बढ़ गया है कि यह जल-पान अथवा तीज-त्योहार में मित्रों तथा सम्बन्धियों के आदर-सत्कार का एक साधन होगया है। पान खाना उतना बुरा नहीं, परन्तु बहुत से आदमी पान में तम्बाकू, कोकीन आदि डालकर खाते हैं, जो कि बहुत ही हानिकारक है।

हुक्का तो जात-बिरादरी की चीज हो गई है और बीड़ी-सिगरेट का भी इतना चलन हो गया है कि ब्याह-शादी में इसका अभाव खटकता है, परन्तु यह है बहुत ही हानिकारक। जो दशा हुक्के की नली में कीट जम जाने से होती है वही तम्बाकू पीने वालों की श्वास नली की भी होती है। बीड़ी-सिगरेट पीने वालों का गला

सदैव खराब रहना है और थोड़ा बहुत खांसी-खुरी सदैव चलना ही रहता है। यह तो रही स्वास्थ्य की दृष्टि से हानि। अब व्यवहारिक दृष्टि से देखिये। शराब पीने वालों को नालियों में गिरने, अफीमचियों का मुंह कुत्तों द्वारा चाटे जाते तो सब किसी ने देखा होगा पर शायद बीड़ी-सिगरेट पीने वालों को बीड़ी-सिगरेट के जूठे टुकड़े बीन बीनकर पीते हुए आप लोगों ने न देखा होगा। बीड़ी-सिगरेट के लिये चीज़-वस्तु बेच डालना तथा घर का पैसा-कौड़ी चुरा ले जाना तो बालकों में प्रायः पाया जाता है। स्वर्गीय महात्मा गांधी ने भी अपनी जीवनी में अपने बीड़ी पीने के कारण पैसे चुराने की चर्चा की है। यह आप ऊपर देख ही चुके हैं कि सिगरेट पीने वाले झूठ किस प्रकार बोलने लगते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि बीड़ी-सिगरेट चिंता तथा थकान को दूर करती है और मनोरंजन का एक साधन है: चाहे मनुष्य कितना ही थका हुआ अथवा चिंतित क्यों न हो, सिगरेट पीने से उसे कुछ सांत्वना अवश्य मिलती है। वास्तव में ऐसा नहीं है। बात यह है कि सिगरेट पीने से थोड़ी देर के लिये ध्यान उस चिंता अथवा काम से हट जाता है और तनिक मनोरंजन सा हो जाता है और साथ ही कुछ हल्का सा तम्बाकू का नशा सा भी आने लगता है, जिससे चिंता-जन्य क्लेश तथा काम द्वारा उत्पादित थकान कम हो जाती है, परन्तु इससे हृदय-गति पर बहुत प्रभाव पड़ता है और कभी कभी तो इसकी अति से गले के अतिरिक्त हृदय तथा फेफड़े के भीषण रोग तक हो जाते हैं।

यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि बालक यौवनोद्गम काल में ही बीड़ी-सिगरेट पीना क्यों सीखते हैं। बात यह है कि इस समय वह बाल्य-काल को छोड़कर यौवन-काल में पदार्पण करता है तो नवयौवन की उमंग में अपने को किसी भी वयस्क व्यक्ति से कम नहीं समझता और उधर वयस्क मनुष्य उसे बालक ही समझते हैं और किसी प्रकार का उत्तरदायित्व देते हुए डरते हैं। फल यह होता है कि बालक के मन में स्वतंत्रता के लिये एक प्रकार का आन्दोलन पैदा हो जाता है, परन्तु वह बड़ों से लड़ तो सकता नहीं। अतः वह कभी कभी उधर से मन हटाने तथा उनकी बराबरी करने के लिये बीड़ी-सिगरेट पीने लगता है। ऐसी दशा में बालक को छोटे छोटे उत्तरदायित्व देने चाहिएं और उससे समाज-सेवा आदि करानी चाहिये, जिससे उसकी आकांक्षाओं की भी पूर्ति होती रहे और साथ ही सुन्दर भाव भी उत्पन्न होते रहें।

यदि उतने पर भी किसी बालक में सिगरेट-बीड़ी पीने की आदत पड़ ही जाय तो संदेह होने पर उसका मुख आदि सूंघ कर, जेब में बीड़ी सिगरेट देखकर, ठीक पता लगाकर, बालकों को उचित आदेश देना चाहिये और सिगरेट विरोधी दल (anti smoking clubs) स्थापित करके, अपना आदर्श सामने रखकर इस कुप्रवृत्ति को छुड़ाना चाहिये, अन्यथा बड़े होने पर कठिन हो जाता है और यदि कारण विशेष से कुछ दिनों के लिये छूट भी जाती है तो मनुष्य पीछे पीने लगता है।